नमो नमो निम्मलदंसणस्स

बाल ब्रह्मचारी श्री नेमिनाथाय नमः

पूज्य आनन्द-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरूभ्यो नमः

आगम-२

सूत्रकृत्

आगमसूत्र हिन्दी अनुवाद

अनुवादक एवं सम्पादक

आगम दीवाकर मुनि दीपरत्नसागरजी

[M.Com. M.Ed. Ph.D. श्रुत महर्षि]

'आगम' हिन्दी-अनुवाद-श्रेणी पुष्प- २

आगमसूत्र- २- 'सूत्रकृत्'

अंगसूत्र- २-हिन्दी अनुवाद

कहां क्या देखे ?

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
	श्रुतस्कन्ध-१			श्रुतस्कन्ध-१ (चालु)	
०१	समय	००५	१३	यथातथ्य	०५०
०२	वैतालिय	०१२	१४	ग्रन्थ	०५२
०३	उपसर्गपरिज्ञा	०१८	१५	यज्ञीय	०५५
०४	स्त्रीपरिज्ञा	०२४	१६	गाथा	०५७
०५	नरकविभक्ति	०२८		श्रुतस्कन्ध-२	०५८
०६	महावीरस्तुति	०३२	०१	पुण्डरीक	०५८
०७	कुशीलपरिभाषित	०३५	०२	क्रियास्थान	०७०
०८	वीर्य	०३८	०३	आहारपरिज्ञा	०८५
०९	धर्म	०४०	०४	परत्याख्यानक्रिया	०९२
१०	समाधि	०४३	०५	आचारश्रुत	०९६
११	मार्ग	०४५	०६	आर्द्रकीय	०९९
१२	समोसरण	०४८	०७	नालन्दीय	१०४

४५ आगम वर्गीकरण

क्रम	आगम का नाम	सूत्र		क्रम	आगम का नाम	सूत्र
०१	आचार	अंगसूत्र-१		२५	आतुरप्रत्याख्यान	पयन्नासूत्र-२
०२	सूत्रकृत्	अंगसूत्र-२		२६	महाप्रत्याख्यान	पयन्नासूत्र-३
०३	स्थान	अंगसूत्र-३		२७	भक्तपरिज्ञा	पयन्नासूत्र-४
०४	समवाय	अंगसूत्र-४		२८	तंदुलवैचारिक	पयन्नासूत्र-५
०५	भगवती	अंगसूत्र-५		२९	संस्तारक	पयन्नासूत्र-६
०६	ज्ञाताधर्मकथा	अंगसूत्र-६		३०.१	गच्छाचार	पयन्नासूत्र-७
०७	उपासकदशा	अंगसूत्र-७		३०.२	चन्द्रवेध्यक	पयन्नासूत्र-७
०८	अंतकृत् दशा	अंगसूत्र-८		३१	गणिविद्या	पयन्नासूत्र-८
०९	अनुत्तरोपपातिकदशा	अंगसूत्र-९		३२	देवेन्द्रस्तव	पयन्नासूत्र-९
१०	प्रश्नव्याकरणदशा	अंगसूत्र-१०		३३	वीरस्तव	पयन्नासूत्र-१०
११	विपाकश्रुत	अंगसूत्र-११		३४	निशीथ	छेदसूत्र-१
१२	औपपातिक	उपांगसूत्र-१		३५	बृहत्कल्प	छेदसूत्र-२
१३	राजप्रश्निय	उपांगसूत्र-२		३६	व्यवहार	छेदसूत्र-३
१४	जीवाजीवाभिगम	उपांगसूत्र-३		३७	दशाश्रुतस्कन्ध	छेदसूत्र-४
१५	प्रज्ञापना	उपांगसूत्र-४		३८	जीतकल्प	छेदसूत्र-५
१६	सूर्यप्रज्ञप्ति	उपांगसूत्र-५		३९	महानिशीथ	छेदसूत्र-६
१७	चन्द्रप्रज्ञप्ति	उपांगसूत्र-६		४०	आवश्यक	मूलसूत्र-१
१८	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति	उपांगसूत्र-७		४१.१	ओघनिर्युक्ति	मूलसूत्र-२
१९	निरयावलिका	उपांगसूत्र-८		४१.२	पिंडनिर्युक्ति	मूलसूत्र-२
२०	कल्पवतंसिका	उपांगसूत्र-९		४२	दशवैकालिक	मूलसूत्र-३
२१	पुष्पिका	उपांगसूत्र-१०		४३	उत्तराध्ययन	मूलसूत्र-४
२२	पुष्पचूलिका	उपांगसूत्र-११		४४	नन्दी	चूलिकासूत्र-१
२३	वृष्णिदशा	उपांगसूत्र-१२		४५	अनुयोगद्वार	चूलिकासूत्र-२
२४	चतु:शरण	पयन्नासूत्र-१		---	---------------	-----

मुनि दीपरत्नसागरजी प्रकाशित साहित्य

क्र	आगम साहित्य: साहित्य नाम	बूक्स	क्रम	आगम साहित्य: साहित्य नाम	बूक्स
1	मूल आगम साहित्य:-	147	6	आगम अन्य साहित्य:-	10
	-1- आगमसुत्ताणि-मूलं print	[49]		-1- આગમ કથાનુયોગ	06
	-2- आगमसुत्ताणि-मूलं Net	[45]		-2- आगम संबंधी साहित्य	02
	-3- आगममञ्जूषा (मूल प्रत)	[53]		-3- ऋषिभाषित सूत्राणि	01
2	आगम अनुवाद साहित्य:-	165		-4- आगमिय सूक्तावली	01
	-1- આગમસૂત્ર ગુજરાતી અનુવાદ	[47]		आगम साहित्य- कुल पुस्तक	516
	-2- आगमसूत्र हिन्दी अनुवाद Net	[47]			
	-3- AagamSootra English Trans.	[11]			
	-4- આગમસૂત્ર સટીક ગુજરાતી અનુવાદ	[48]			
	-5- आगमसूत्र हिन्दी अनुवाद print	[12]		अन्य साहित्य:-	
3	आगम विवेचन साहित्य:-	171	1	તત્ત્વાભ્યાસ સાહિત્ય-	13
	-1- आगमसूत्र सटीकं	[46]	2	સૂત્રાભ્યાસ સાહિત્ય-	06
	-2- आगमसूत्राणि सटीकं प्रताकार-1	[51]	3	વ્યાકરણ સાહિત્ય-	05
	-3- आगमसूत्राणि सटीकं प्रताकार-2	[09]	4	વ્યાખ્યાન સાહિત્ય-	04
	-4- आगम चूर्णि साहित्य	[09]	5	જિનભક્તિ સાહિત્ય-	09
	-5- सवृत्तिक आगमसूत्राणि-1	[40]	6	વિધિ સાહિત્ય-	04
	-6- सवृत्तिक आगमसूत्राणि-2	[08]	7	આરાધના સાહિત્ય	03
	-7- सचूर्णिक आगमसुत्ताणि	[08]	8	પરિચય સાહિત્ય-	04
4	आगम कोष साहित्य:-	14	9	પૂજન સાહિત્ય-	02
	-1- आगम सद्दकोसो	[04]	10	તીર્થંકર સંક્ષિપ્ત દર્શન	25
	-2- आगम कहाकोसो	[01]	11	પ્રકીર્ણ સાહિત્ય-	05
	-3- आगम-सागर-कोष:	[05]	12	દીપરત્નસાગરના લઘુશોધનિબંધ	05
	-4- आगम-शब्दादि-संग्रह (प्रा-सं-गु)	[04]		આગમ સિવાયનું સાહિત્ય કૂલ પુસ્તક	85
5	आगम अनुक्रम साहित्य:-	09			
	-1- આગમ વિષયાનુક્રમ- (મૂળ)	02		1-आगम साहित्य (कुल पुस्तक)	516
	-2- आगम विषयानुक्रम (सटीकं)	04		2-आगमेतर साहित्य (कुल	085
	-3- आगम सूत्र-गाथा अनुक्रम	03		दीपरत्नसागरजी के कुल प्रकाशन	601

મુનિ દીપરત્નસાગરનું સાહિત્ય

1	મુનિ દીપરત્નસાગરનું આગમ સાહિત્ય	[કુલ પુસ્તક 516]	તેના કુલ પાના [98,300]
2	મુનિ દીપરત્નસાગરનું અન્ય સાહિત્ય	[કુલ પુસ્તક 85]	તેના કુલ પાના [09,270]
3	મુનિ દીપરત્નસાગર સંકલિત 'તત્ત્વાર્થસૂત્ર'ની વિશિષ્ટ DVD		તેના કુલ પાના [27,930]

અમારા પ્રકાશનો કુલ ૬૦૧ + વિશિષ્ટ DVD કુલ પાના 1,35,500

[२] सूत्रकृत्
अंगसूत्र-२- हिन्दी अनुवाद

श्रुतस्कन्ध-१
अध्ययन-१ - समय
उद्देशक-१

सूत्र - १

बोध प्राप्त करो । बन्धन को जानकर उसे तोड़ डालो । (प्रश्न) महावीर ने बंधन किसे कहा है ? किसे जान लेने से उसे तोड़ा जा सकता है ?

सूत्र - २

जो सचेतन या अचेतन पदार्थों में अल्प मात्र भी परिग्रह-बुद्धि रखता है या दूसरों के परिग्रह का समर्थन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है ।

सूत्र - ३

जो प्राणियों का स्वयं घात करता है या दूसरों से घात करवाता है अथवा घात करने वाले का समर्थन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है ।

सूत्र - ४

जो मनुष्य जिस कुल में जन्म लेता है या जिनके साथ रहता है, वह ममत्ववान, अज्ञानी एक दूसरे के प्रति मूर्च्छित होकर नष्ट होता रहता है ।

सूत्र - ५

धन और भाई-बहिन–ये सभी रक्षा नहीं कर सकते । जीवन के रहते कर्म-बन्धनों को तोड़ देना चाहिए ।

सूत्र - ६

कुछैक श्रमण-ब्राह्मण इन ग्रन्थियों का अतिक्रमण कर, परमार्थ को न जानने के कारण अभिमान करते हैं और वे मनुष्य कामभोग में आसक्त रहते हैं ।

सूत्र - ७

कुछैक दार्शनिक कहते हैं इस संसार में पाँच महाभूत हैं–१.पृथ्वी, २.पानी, ३.अग्नि, ४.वायु, ५.आकाश ।

सूत्र - ८

ये पाँच महाभूत हैं । इनके एकीकरण से एक आत्मा उत्पन्न होती है और इनका विनाश होने पर देही का विनाश हो जाता है ।

सूत्र - ९

जैसे एक ही पृथ्वी–स्तूप विविध रूपों में दिखाई देता है, वैसे ही सम्पूर्ण लोक विज्ञ है, वह विविध रूपों में दिखाई देता है ।

सूत्र - १०

कुछ दार्शनिक, जो प्रमाद और हिंसा में संलग्न हैं वे उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । वह अकेला ही पाप करके तीव्र दु:खों का अनुभव करता है ।

सूत्र - ११

चाहे बालक हो या पण्डित, प्रत्येक की आत्मा पूर्ण है । उसकी आत्मा दिखाई दे रही है या नहीं–ऐसा कहने से उसका सत्त्व औपपातिक नहीं है ।

सूत्र - १२

न पुण्य है, न पाप है, न ही इस लोक के अतिरिक्त अन्य कोई लोक है । शरीर के विनाश से देही का भी विनाश हो जाता है ।

सूत्र - १३

आत्मा समस्त कार्य करती है, कराती है, किन्तु वह कर्ता नहीं है । अतः आत्मा अकर्ता है । ऐसा वे (अक्रियावादी) कहते हैं ।

सूत्र - १४

जो ऐसा कहता है, उनके अनुसार यह लोक कैसे सिद्ध होगा । वे प्रमत्त और हिंसा से आबद्ध लोग अन्धकार से सघन अन्धकार की ओर जाते हैं ।

सूत्र - १५

कुछ दार्शनिक यहाँ पाँच महाभूत कहते हैं और कुछ दार्शनिक आत्मा को छट्ठा महाभूत । उनके अनुसार आत्मा तथा लोक शाश्वत हैं ।

सूत्र - १६

उन दोनों (आत्मा तथा लोक) का विनाश नहीं होता तथा असत् उत्पन्न नहीं होता । सभी पदार्थ सर्वथा नियति भाव को प्राप्त हैं ।

सूत्र - १७

कुछेक मूढ़ और क्षणयोगी दार्शनिक कहते हैं कि स्कन्ध पाँच हैं । वे इससे अन्य अथवा अनन्य एवं सहेतुक या अहेतुक आत्मा को नहीं मानते ।

सूत्र - १८

ज्ञायकों (धातुवादी बोद्धों)ने कहा है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु से शरीर का निर्माण होता है ।

सूत्र - १९

(उनके अनुसार) चाहे गृहस्थ हो या आरण्यक अथवा प्रव्रजित, जो भी इस दर्शन में आ जाते हैं, वे सभी दुःखों से मुक्त हो जाते हैं ।

सूत्र - २०

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे दुःख के प्रवाह का किनारा नहीं पा सकते ।

सूत्र - २१

सन्धि को जान लेने मात्र से मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे संसार के पार नहीं जा सकते ।

सूत्र - २२

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे गर्भ के पार नहीं जा सकते ।

सूत्र - २३

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे जन्म के पार नहीं जा सकते

सूत्र - २४

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे दुःख के पार नहीं जा सकते ।

सूत्र – २५. २६

सन्धि को जान लेने मात्र से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । जो ऐसा कहते हैं, वे मृत्यु के पार नहीं जा सकते । ..... वे मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे से आकुल संसार रूपी चक्र में पुनः पुनः नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं ।

सूत्र - २७

वे ऊंच और नीच गतियों में भटकते हुए अनन्त बार गर्भ में आएंगे । –ऐसा जिनेश्वर ज्ञातपुत्र महावीर ने कहा है । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१ – उद्देशक-२

सूत्र - २८

कुछ कहते हैं कि जीव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं, सुख दुःख का अनुभव करते हैं और अपने स्थान से लुप्त होते हैं, मरते हैं ।

सूत्र - २९

वह दुःख न तो स्वयं कृत होता है और न ही अन्यकृत । वह सुख या दुःख सिद्धि सम्बद्ध हो, असिद्धि/संसारसम्बद्ध हो, नियतिकृत होता है ।

सूत्र - ३०

जीव तो स्वयंकृत का अनुभव करते हैं और न ही अन्यकृत । वह तो सांगतिक/नियतिकृत होता है । ऐसा कुछ (नियतिवादी) कहते हैं ।

सूत्र - ३१

इस प्रकार कहने वाले मूढ़/अज्ञानी होते हुए भी स्वयं को पंडित मानते हैं । वे अज्ञ नहीं जानते कि कुछ सुख-दुःख नियत होते हैं और कुछ अनियत ।

सूत्र - ३२

इस प्रकार कुछ पार्श्वस्थ-नियतिवादी धृष्टता करते हैं । वे साधना पथ पर उपस्थित होकर भी स्वयं को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते ।

सूत्र - ३३

जैसे वेगगामी मृग परितान से भयभीत और शान्त होकर अशंकित के प्रति शंका करते हैं और शंकित के प्रति अशंकी रहते हैं ।

सूत्र - ३४

वे मृगजाल के प्रति शंकास्पद और बन्धन के प्रति निःशंक होते हैं । वे अज्ञान और भय से उद्विग्न होकर इधर-उधर दौड़ते हैं ।

सूत्र - ३५

यदि वे मृग छलांग भरते हुए उस बन्धन को लांघ जाएं या उसके नीचे से नीकल जाए, तो वे पद-पाश से मुक्त हो सकते हैं, किन्तु वे मंदमति उसे देख नहीं पाते ।

सूत्र - ३६

वे अहितात्मा और हितप्रज्ञाशून्य मृग पाश/बन्धन-युक्त मार्ग से जाते हैं और उस बन्धन में बंधकर मृत्यु प्राप्त करते हैं ।

सूत्र - ३७

इस प्रकार कई मिथ्या-दृष्टि अनार्य श्रमण अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति निःशंक रहते हैं ।

सूत्र - ३८

वे मूढ़ अव्यक्त और अकोविद श्रमण धर्म के ज्ञापन में शंका करते हैं, किन्तु आरम्भों (हिंसाजन्य वृत्तियों) में शंका नहीं करते हैं ।

सूत्र - ३९

सर्वात्मक (लोभ), व्युत्कर्ष (अभिमान), णूम (माया), अप्रीतिक (क्रोध) को नष्ट कर जीव अकर्मांश हो जाता है, मृग समान अज्ञानी इस अर्थ को त्याग देता है ।

सूत्र - ४०

जो मिथ्यादृष्टि अनार्य पुरुष इस तथ्य को नहीं जानते, वे पाश-बद्ध मृग की तरह अनन्त बार नष्ट होते हैं ।

सूत्र - ४१

कुछेक ब्राह्मण और श्रमण अपने ज्ञान को सत्य कहते हैं । उनके अनुसार सम्पूर्ण लोक में उनके मत से जो भिन्न प्राणी हैं, वे कुछ भी नहीं जानते हैं ।

सूत्र – ४२, ४३

जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ की बातें करता है, किन्तु उसके हेतु को नहीं जानता, मात्र कथित का कथन करता है। ..... इसी प्रकार अज्ञानी (पूर्ण ज्ञान रहित) अपने-अपने ज्ञान को कहते हुए भी निश्चयार्थ को नहीं जानते । वे म्लेच्छ की तरह अबोधिक होते हैं ।

सूत्र - ४४

अज्ञानिकों का विमर्श अज्ञान में निश्चय नहीं करा सकता है । जब वे अपने आप पर अनुशासन नहीं कर पाते, तब दूसरों को कैसे अनुशासित कर सकते हैं ?

सूत्र - ४५

जैसे वन में दिग्भ्रमित पुरुष यदि दिग्भ्रमित नेता का ही अनुगमन करता है, तो वे दोनों अकोविद होने के कारण तीव्र स्रोत/जंगल में चले जाते हैं ।

सूत्र - ४६

अन्धा अन्धे को पथ पर ले जाता हुआ या तो दूर ले जाता है या उत्पथ पर चला जाता है अथवा अन्य पथ का अनुगमन कर लेता है ।

सूत्र - ४७

इसी प्रकार कुछ नियागार्थी/मोक्षार्थी कहते तो हैं कि हम धर्म के आराधक हैं, किन्तु वे अधर्म का सेवन करते हैं । वे सर्व-ऋजु-मार्ग पर नहीं चलते ।

सूत्र - ४८

कुछ लोग वितर्कों के कारण किसी अन्य की पर्युपासना नहीं करते । वे दुर्मति अपने वितर्कों के कारण कहते हैं–यह मार्ग ही ऋजु है ।

सूत्र - ४९

इस प्रकार अकोविद-पुरुष धर्म और अधर्म को तर्क से सिद्ध करते हैं । वे दुःखों से वैसे ही नहीं छूट पाते जैसे पींजरे से पक्षी ।

सूत्र - ५०

अपने-अपने वचन की प्रशंसा और दूसरे के वचन की निन्दा करते हुए जो उछलते हैं, वे संसार बढ़ाते हैं

सूत्र - ५१

अब इसके बाद क्रियावादी दर्शन है, जो पूर्व कथित है । कर्म-चिन्तन नष्ट करने के कारण यह संसार-प्रवर्धक है ।

सूत्र - ५२

जो जानते हुए शरीर से किसी को नहीं मारता है या अनजान में हिंसा कर देता है, वह अव्यक्त/सूक्ष्म सावद्य कर्म का स्पृष्ट कर संवेदन अवश्य करता है ।

सूत्र - ५३

ये तीन आगमन-द्वार हैं, जिनसे पाप की क्रिया होती है । अभिक्रम्य–स्वयं कृत प्रयत्न से, प्रेष्य–अन्य सहयोग से और वैचारिक अनुमोदन से ।

सूत्र - ५४

ये तीन आदान हैं, जिनसे पाप किया जाता है । निर्वाण भाव-विशुद्धि से प्राप्त होता है ।

सूत्र - ५५

असंयत पिता आहार के लिए पुत्र की हिंसा करता है, किन्तु मेघावी पुरुष उसका उपभोग करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होता ।

सूत्र - ५६

जो मन से प्रदूषित हैं, उनके चित्त नहीं होता । वे संवृतचारी न होने के कारण अनवद्य और अतथ्य हैं ।

सूत्र - ५७

इन दृष्टियों को स्वीकार करने से वे सुख-गौरव-निश्रित हो जाते हैं । वे लोग इसी को शरण मानते हुए पाप का सेवन करते हैं ।

सूत्र – ५८, ५९

जैसे जन्मान्ध पुरुष आस्रविनी/सछिद्र नौका पर आरूढ़ हो कर पार पाना चाहता है, किन्तु उसे बीच में ही विषाद करना पड़ता है । इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संसार का पार पाना चाहते हैं, किन्तु वे संसार में ही अनुपर्यटन करते हैं । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१ – उद्देशक-३

सूत्र - ६०

श्रद्धालु पुरुष आगंतुक भिक्षु की ईच्छा से जो कुछ भी भोजन पकाता है, हजार घरों के अन्तरित हो जाने पर भी उपभोग करना उभयपक्षों का ही सेवन है ।

सूत्र - ६१

वे अकोविद भिक्षु इस विषमता को नहीं जानते । विशाल-काय मत्स्य जल के किनारे आ जाते हैं ।

सूत्र - ६२

जल के कम हो जाने पर किनारा शीघ्र सूख जाता है । तब आमिषभोजी ध्वक्षि और कंक पक्षियों द्वारा वे दुःखी होते हैं ।

सूत्र - ६३

वर्तमान सुख के अभिलाषी कुछ श्रमण भी इसी प्रकार विशालकाय मत्स्यों के समान अनन्त बार मृत्यु की एषणा है ।

सूत्र – ६४-६६

यह एक अन्य अज्ञान है । कुछ दार्शनिक यह कहते हैं कि यह लोक देव उत्पादित है तो कुछ कहते हैं कि ब्रह्मा द्वारा उत्पादित है ।

कुछ कहते हैं–जीव-अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से सम्पृक्त यह लोक ईश्वर-कृत है । कुछ अन्य इसको प्रधान/प्रकृति कृत कहते हैं । अथवा लोक स्वयम्भू कृत है ऐसा महर्षि न कहा है । उसने मृत्यु से माया विस्तृत की, अतः लोक अशाश्वत है ।

सूत्र - ६७

कुछ ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं जगत् अंडे से उत्पन्न है । उस से ही तत्त्वों की रचना हुई है, जो इसे नहीं जानते, वे मृषा बोलते हैं ।

सूत्र - ६८

लोक अपनी पर्यायों से कृत है–यह कहना चाहिए । वे तत्त्व को नहीं जानते हैं क्योंकि यह लोक कभी विनाशी नहीं है ।

सूत्र - ६९

दु:ख अमनोज्ञ की निष्पत्ति है, यह जानना चाहिए । जो उत्पत्ति को नहीं जानते हैं, वे संवर को कैसे जानेंगे?

सूत्र - ७०

कुछ वादियों ने कहा कि आत्मा शुद्ध अपापक–पाप रहित है, किन्तु क्रीड़ा और प्रद्वेष के कारण वही अपराध करती है ।

सूत्र - ७१

यह मनुष्य संवृत मुनि होता है, बाद में अपापक होता है । जैसे विकट जल ही रजसहित और रजरहित हो जाता है ।

सूत्र - ७२

मेघावी पुरुष इन वादों का अनुचिंतन/विवेचन करके ब्रह्मचर्य में वास करे । सभी प्रावादुक पृथक्-पृथक् हैं और वे अपनी अपनी बातों का आख्यान करते हैं ।

सूत्र - ७३

(वे कहते हैं–) अपने-अपने सम्प्रदायमान्य अनुष्ठान से ही सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं । वशवर्ती-पुरुष के अधोजगत् में भी सर्व काम समर्पित पूर्ण हो जाते हैं ।

सूत्र - ७४

कुछ वादी कहते हैं, वे (जन्मजात) सिद्ध और निरोगी हो जाते हैं । इस तरह सिद्धि को ही प्रमुख मानकर वे अपने आशय में ग्रथित/आबद्ध हैं ।

सूत्र - ७५

वे असंवृत मनुष्य इस अनादि संसार में बार-बार भ्रमण करेंगे । वे कल्प परिमित काल तक आसुर एवं किल्बिषिक स्थानों में उत्पन्न होते हैं । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१ – उद्देशक-४

सूत्र – ७६, ७७

हे मुनि ! बाल-पुरुष स्वयं को पंडित मानते हुए विजयी होने पर भी शरण नहीं हैं । वे पूर्व संयोगों को छोड़कर भी कृत्यों (गृहस्थ-धर्म) के उपदेशक हैं । विद्वान भिक्षु उनके मत को जानकर उनमें मूर्च्छा न करे । अनुत्कर्ष और अल्पलीन मुनि मध्यस्थ-भाव से जीवन-यापन करे ।

सूत्र - ७८

कुछ दार्शनिकों ने कहा है कि परिग्रह और हिंसा करते हुए भी मुनि हो सकते हैं, किन्तु ज्ञानी भिक्षु अपरिग्रह और अनारम्भ को भिक्षुधर्म जानकर हिंसादि परिव्रजन करे ।

सूत्र - ७९

विद्वान मुनि गृहस्थ-कृत आहार की एषणा/याचना करे और प्रदत्त आहार को ग्रहण करे । वह आहार में अगृद्ध और विप्रमुक्त होकर अवमान का परिवर्जन करे ।

सूत्र - ८०

कुछ दर्शनों में कहा गया है कि लोकवाद सूनना चाहिए, किन्तु वह विपरीत बुद्धि से उत्पन्न हैं एवं दूसरों द्वारा कथित बात का अनुगमन मात्र है ।

सूत्र - ८१

(कुछ कहते हैं–) लोक नित्य, शाश्वत और अविनाशी है । अतः अनन्त है; पर धीर-पुरुष नित्य लोक को अन्तवान देखता है ।

सूत्र - ८२

कुछ लोगों ने कहा है लोक अपरिमित जाना जाता है, लेकिन धीर-पुरुष उसे परिमित देखता/जानता है।

सूत्र - ८३

इस लोक में त्रस अथवा स्थावर जितने भी प्राणी हैं, यह उनकी पर्याय है । जिससे प्राणी कभी त्रस और कभी स्थावर होते हैं ।

सूत्र - ८४

जगत में योग/अवस्था उदार है, किन्तु विपर्यास में प्रलीन हो अवस्थाएं इंद्रिय प्रत्यक्ष हैं । सभी प्राणी दुःख से आक्रांत हैं । इसलिए सभी अहिंस्य हैं ।

सूत्र - ८५

ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी की हिंसा न करे । समता ही अहिंसा है । इतना ही उसे जानना चाहिए ।

सूत्र - ८६

वह व्युषित/निर्मल रहे, गृद्धिमुक्त बने, आत्मा का संरक्षण करे । चर्या, आसन, शय्या और आहार-पानी के सम्बन्ध में जीवन-पर्यन्त (प्रयत्नशील रहे ।)

सूत्र - ८७

मुनि (चर्या, आसन-शयन एवं भक्तपान) इन तीन स्थानों में सतत संयत रहे । यह उत्कर्ष/मान, ज्वलन/क्रोध, नूम/माया, मध्यस्थ/लोभ का परिहार करे ।

सूत्र - ८८

साधु समितियों से संयुक्त, पाँच संवरों से संवृत, आबद्ध पुरुषों में अप्रतिबद्ध होकर अन्तिम समय तक मोक्ष के लिए परिव्रजन करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-२ – वैतालिक

उद्देशक-१

सूत्र - ८९

सम्बोधि प्राप्त करो । बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? परलोक में सम्बोधि दुर्लभ है । बीती हुई रात्रियाँ लौटकर नहीं आती । संयमी जीवन पुनः सुलभ नहीं है ।

सूत्र - ९०

देखो ! बालक, वृद्ध और गर्भस्थ शिशु भी जीवनच्युत हो जाते हैं । जैसे बाज बटेर का हरण कर लेता है, वैसे ही आयु क्षय हो जाने पर जीवन-सूत्र टूट जाता है ।

सूत्र - ९१

वह कदाचित् माता-पिता से पहले ही मर जाता है । परलोक में सुगति सुलभ नहीं होती है । इन भय-स्थलों को देखकर व्रती पुरुष हिंसा से विराम ले ।

सूत्र - ९२

इस जगत में सभी जन्तु अलग-अलग हैं । वे प्राणी कर्मों के कारण लिप्त हैं । वे स्वकृत क्रियाओं के द्वारा कर्म ग्रहण करते हैं । वे कर्मों का फल स्पर्श किये बिना छूट नहीं सकते ।

सूत्र - ९३

देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, सरीसृप, राजा, नगर-श्रेष्ठि और ब्राह्मण–ये सभी दुःखपूर्वक अपने स्थानों से च्युत होते हैं ।

सूत्र - ९४

मृत्यु आने पर प्राणी काम-भोग और सम्बन्धों को तोड़कर कर्म सहित चले जाते हैं । आयुष्य क्षय होने पर वे ताड़ फल की तरह टूटकर गिर जाते हैं ।

सूत्र - ९५

यदि कोई बहुश्रुत/शास्त्र-पारगामी हो या धार्मिक ब्राह्मण हो या भिक्षु, यदि वह मायामय-कृत्यों में मूर्च्छित होता है तो वह कर्मों द्वारा तीव्र पीड़ा प्राप्त करता है ।

सूत्र – ९६, ९७

देख ! सच्चा साधक विवेकमें उपस्थित होकर, संयममें अवतरित होकर ध्रुव का भाषण करता है । कर्मों को छोड़कर कृत्य करता है, तो परम-लोक को कैसे नहीं जान पाएगा ? यद्यपि वह नग्न एवं कृश होकर विचरण करता है, मास-मास के अन्तमें भोजन करता है, तथापि वह माया आदि के कारण अनंत बार गर्भ में आता रहता है

सूत्र - ९८

हे पुरुष ! मनुष्य-जीवन के अन्त तक पाप-कर्म से उपरत रह । यहाँ आसक्त तथा काम-मूर्छित, असंस्कृत-पुरुष मोह को प्राप्त होते हैं ।

सूत्र - ९९

हे योगी ! तू यतना करता हुआ विचरण कर । मार्ग सूक्ष्म-प्राणियों से अनुप्राणित है । तू महावीर द्वारा सम्यक् प्ररूपित अनुशासन में पराक्रम कर ।

सूत्र - १००

वीर, संयम-उद्यत, विरत क्रोधादिकषाय-नाशक, पाप से विरत अभिनिवृत्त पुरुष किसी भी प्राणी का घात नहीं करता ।

सूत्र - १०१

इस संसार में केवल मैं ही लुप्त नहीं होता, अपितु लोक में दूसरे प्राणी भी लुप्त होते हैं । इस प्रकार

साधक आत्मौपम्य-सहित देखता है । पीड़ा स्पर्श होने पर डरे नहीं, सहन करे ।

सूत्र - १०२

साधक कर्म-लेप को धुने । देह को अनशन/उपवासादि से कृश करे । अहिंसा में प्रव्रजन करे । यही श्रमण महावीर द्वारा प्ररूपित अनुधर्म है ।

सूत्र - १०३

जैसे पक्षिणी धूल से अनुगुण्ठित होने पर अपने को कंपित कर धूल को झाड़ देती है, वैसे ही द्रव्य उपधान-वान तपस्वी ब्राह्मण कर्मों को क्षीण करता है ।

सूत्र - १०४

अनगारत्व की एषणा के लिए उपस्थित एवं श्रमणोचित स्थान में स्थित तपस्वी पुरुष को चाहे बच्चे और बूढ़े सभी प्रार्थना कर ले, किन्तु वे उसे गृहस्थ-जीवन में वापस नहीं बुला सकते ।

सूत्र - १०५

यदि वे उस श्रमण के समक्ष करुण विलाप कर आकर्षित करना चाहे, तो भी वे साधना में उद्यत उस भिक्षु को समझाकर गृहस्थ में नहीं ले जा सकते ।

सूत्र - १०६

चाहे वे उस श्रमण को काम-भोगों के लिए आमंत्रित करे या बाँधकर घर ले आए, पर जो जीवन की ईच्छा नहीं करता उसे समझाकर गृहस्थ में नहीं ले जा सकते ।

सूत्र - १०७

ममत्व दिखाने वाले उसके माता-पिता और पुत्री-पत्नी आदि सभी श्रमण को शिक्षा देते हैं–तुम दूरदर्शी हो, अतः हमारा पोषण करो, अन्यथा परलोक का पोषण कैसे होगा ?

सूत्र - १०८

अन्य पुरुष अन्य में मूर्च्छित होते हैं । वे असंस्कृत-पुरुष मोह को प्राप्त करते हैं । विषम को ग्रहण करने वाले पुनः पाप को संचय करते हैं ।

सूत्र - १०९

इसलिए पंडित अभिनिवृत–पुरुष-साधक पाप-कर्म से विरत बने । इस विषमता को देखकर वीर पुरुष ध्रुव की यात्रा कराने वाले महापथ-सिद्धिपथ पर प्रणत होते हैं ।

सूत्र - ११०

मन-वचन-काया से संवृत-पुरुष वैतालीय मार्ग पर उपस्थित रहे । धन, स्वजन और हिंसा का त्याग करे । सुसंस्कृत होकर विचरण करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-२ – उद्देशक-२

सूत्र - १११

मुनि रज सहित काया के स्वामित्व का त्याग करता है । यह सोचकर मुनि मद न करे । ब्राह्मण द्वारा अन्य गोत्रों की उपेक्षा-मूलक आकांक्षा अश्रेयस्कर है ।

सूत्र - ११२

जो दूसरे लोगों को पराभूत करता है, वह संसार में महत्-परिभ्रमण करता है । पराभव की आकांक्षा पाप-जनक है । यह जानकर मुनि मद न करे ।

सूत्र - ११३

चाहे कोई अधिपति हो या अनायक/भृत्य; इस मौन-पद/मुनि-पद में उपस्थित होने के बाद लज्जा न करे। सदैव समता-पूर्वक विचरण करे ।

सूत्र - ११४

संशुद्ध-श्रमण संयम में स्थित रहकर अहङ्कार-शून्य होकर समता में परिव्रजन करता है । समाहित-पंडित मृत्युकाल तक संयमाराधन करता है ।

सूत्र - ११५

दूरदृष्टि-मुनि अतीत और अनागत-धर्म का अनुपश्यी है । माहण (ज्ञानी) कठोर वचनों से आहत होने पर सिद्धांत/समत्व में रत रहता है ।

सूत्र - ११६

प्रज्ञावान मुनि सदा समता-धर्म का उपदेश दे । सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी न तो कभी क्रोध करे, न मान करे ।

सूत्र - ११७

जो बहुजन नमन के लिए सभी अर्थो/विषयों से अनिश्रित, सदा सरोवर की तरह स्वच्छ है, उसके लिए काश्यपधर्म प्रकाशित किया है ।

सूत्र - ११८

अनन्त-प्राणी पृथक्-पृथक् हैं । प्रत्येक प्राणीमें समता है, जो मौन-पद (मुनि-पद)में स्थित है, वह पण्डित विरति का पालन करे–घात न करे ।

सूत्र – ११९, १२०

धर्म का पारगामी एवं आरम्भ/हिंसा के अंतमें स्थित मुनि है, परन्तु ममत्व-युक्त पुरुष शोक करते हैं, तथापि अपने परिग्रह को नहीं पाते हैं । ज्ञानी को (परिग्रह) इस लोकमें भी दु:खदायी और परलोकमें भी दु:खदायी है । ऐसा विध्वंसधर्मा ज्ञानी गृह-निवास कैसे कर सकता है ?

सूत्र - १२१

महान् परिगोप (कीचड़) को जानकर भी जो वंदन-पूजन से सूक्ष्म शल्य को नहीं नीकाल पाता है, उस ज्ञानी को संस्तव छोड़ देना चाहिए ।

सूत्र - १२२

भिक्षु सदा वचन का संयम, मन का संवर एवं उपधान-वीर्य (तपो-बली) होकर एकाकी विचरण करे । कायोत्सर्ग, शयन एवं ध्यान अकेले ही करे ।

सूत्र - १२३

मुनि शून्य-गृह का द्वार बन्द न करे, न खोले । पूछने पर न बोले, घर का परिमार्जन न करे और न ही तृण-संस्तार करे ।

सूत्र - १२४

मुनि सूर्यास्त होन पर सम एवं विषम स्थान पर अनाकूल रहे । वहाँ चरक या रेंगने-वाले, भैरव या खून चूसने वाले, सरीसृप हो तो भी वहाँ रहे ।

सूत्र - १२५

शून्य-गृह में स्थित महामुनि तिर्यक्, मनुज, दिव्यज–तीनों उपसर्गों को सहन करे । भय से रोमांचित न हो ।

सूत्र - १२६

वह भिक्षु जीवन का आकांक्षी न बने एवं न ही पूजन का प्रार्थी बने । शून्यगृहमें स्थित भिक्षु के भैरव आदि प्राणी अभ्यस्त/सह्य हो जाते हैं ।

सूत्र - १२७

उपनीत (आत्मरत) चिन्तनशील, एकांत स्थान का सेवन करने वाले एवं भय से अविचलित रहने वाले साधु के सामायिक होती है ।

सूत्र - १२८

गर्म-जल एवं गर्म-भोजन करने वाले, धर्म में स्थित एवं लज्जित मुनि के लिए राजा का संसर्ग अनुचित है। इससे तथागत भी असमाधि पाता है ।

सूत्र - १२९

कलह करने वाले, तिरस्कारपूर्ण और कठोर-वचन बोलने वाले भिक्षु का बहु/परम अर्थ नष्ट हो जाता है । इसलिए पण्डित कलह न करे ।

सूत्र - १३०

शीतोदक (सचित्त-जल) से जुगुप्सा करने वाला, अप्रतिज्ञ, निष्काम-प्रवृत्ति से दूर और जो गृह-मत्त भोजन नहीं करे, उसके लिए सामयिक कथित है ।

सूत्र - १३१

जीवन संस्कृत नहीं कहा गया है, तथापि अज्ञानी धृष्टता करता है । अज्ञ स्वयं को पाप से भरता जाता है, यह सोचकर मुनि मद नहीं करता है ।

सूत्र - १३२

माया एवं मोह से आच्छादित प्रजा ईच्छाओं के कारण सहजतः नष्ट होती है, किन्तु ज्ञानी कठिनाई से नष्ट होता है । वह प्रशंसा, निन्दात्मक-वचन सहन करता है ।

सूत्र – १३३, १३४

जैसे अपराजित जुआरी कुशल-पासों से जूआ खेलता हुआ कृत् (दाव) को ही स्वीकार करता है, कलि, त्रेता या द्वापर को नहीं ।

इसी प्रकार लोक में त्राता द्वारा जो अनुत्तर-धर्म कथित है उसे ग्रहण करे । पण्डित-पुरुष शेष को छोड़कर कृत् को ही स्वीकारता है । यही हितकर है ।

सूत्र - १३५

यह मेरे द्वारा अनुश्रुत है कि ग्राम-धर्म (मैथुन) सब विषयों में प्रधान कहा गया है । जिससे विरत पुरुष ही काश्यप-धर्म का आचरण करते हैं ।

सूत्र - १३६

जो महान् महर्षि, ज्ञाता, महावीर के कथित (धर्म) का आचरण करते हैं, वे उत्थित हैं, वे समुचित हैं, वे एक दूसरे को धर्म में प्रेरित करते हैं ।

सूत्र - १३७

पूर्वकाल में भुक्त भोगों को मत देखो । उपधि को समाप्त करने की अभिकांक्षा करो । जो विषयों के प्रति नत नहीं है, वे समाधि को जानते हैं ।

सूत्र - १३८

संयत-पुरुष कायिक, प्राश्निक और सम्प्रसारक न बने । अनुत्तर धर्म को जानकर कृत-कार्यों के प्रति ममत्व न करे ।

सूत्र - १३९

ज्ञानी-पुरुष अपने दोषों को न ढके, अपनी प्रशंसा न करे, उत्कर्ष प्रकाश न करे । संयम रखने वाले प्रणत-पुरुष को ही सुविवेक मिलता है ।

सूत्र - १४०

मुनि अनासक्त, स्वहित, सुसंवृत, धर्मार्थी, उपधानवीर्य/तप-पराक्रमी एवं जितेन्द्रिय होकर विचरण करे, क्योंकि आत्महित दुःख से प्राप्त होता है, दुःसाध्य है ।

सूत्र - १४१

विश्व-सर्वदर्शी, ज्ञातक-मुनि महावीर ने सामायिक का प्रतिपादन किया है । वह न तो अनुश्रुत है, न ही अनुष्ठित है ।

सूत्र - १४२

इस प्रकार महान अन्तर को जानकर, धर्म-सहित होकर, गुरु की भावना का अनुवर्तन कर कईं विरत मनुष्यों ने संसार-समुद्र पार किया है । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-२ – उद्देशक-३

सूत्र - १४३

संवृत्तकर्मी भिक्षु के लिए अज्ञानता से जो दुःख स्पृष्ट होता है, वह संयम से क्षीण होता है । पंडित-पुरुष मरण को छोड़कर चले जाते हैं ।

सूत्र - १४४

जो विज्ञापन से अनासक्त हैं, वे तीर्णपुरुष के समान कहे गए हैं । अतः ऊर्ध्व (मोक्ष) को देखो, काम को रोगवत् देखो ।

सूत्र - १४५

जैसे वणिक द्वारा आनीत उत्तम वस्तु को राजा ग्रहण करता है, वैसे ही संयमी रात्रि-भोजन-त्याग आदि परम महाव्रतों को धारण करते हैं ।

सूत्र - १४६

जो सुखानुगामी अत्यासक्त, काम-भोग में मूर्च्छित और कृपण के समान धृष्ट हैं, वे प्रतिपादित समाधि को नहीं जान सकते ।

सूत्र - १४७

जैसे व्याधि से विक्षिप्त एवं प्रताड़ित बैल बलहीन हो जाता है, दुर्बल होकर भार वहन नहीं कर सकता, क्लेश पाता है ।

सूत्र - १४८

इसी तरह कामैषणा का ज्ञाता आज ही या कल संसर्ग/संस्तव को छोड़ दे । कामी होकर लभ्य-अलभ्य कामों की कामना न करे ।

सूत्र - १४९

बाद में असाधुता न हो, इसलिए स्वयं को अनुशासित कर ले । जो असाधु होता है, वह अत्यधिक शोक, प्रकम्पन एवं विलाप करता है ।

सूत्र – १५०, १५१

इस लोक में जीवन को देखे । सौ वर्षायु युवावस्था में ही टूट जाता है । अतः जीवन अल्पकालीन निवास समान समझो । गृद्ध मनुष्य काम-भोगों में मूर्च्छित है ।जो आरम्भ-निश्रित, आत्मदंडी, एकान्त-लूटेरे हैं, वे पाप-लोक में जाते हुए आसुरी-दिशा में चिरकाल तक रहेंगे ।

सूत्र - १५२

जीवन सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता, तथापि बाल-पुरुष प्रगल्भता करता है । वह कहता है मुझे वर्तमान से कार्य है, अनागत-परलोक को किसने देखा है ?

सूत्र - १५३

हे अदृष्ट ! प्रत्यक्षदर्शी द्वारा प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करे । खेद है कि कृतमोहनीय कर्म से दर्शन निरुद्ध होता है ।

सूत्र - १५४

मनुष्य मोहवश पुनः पुनः दुःखी होता है । (अतः) साधक श्लाधा और पूजा से दूर रहे । सहिष्णु एवं संयमी समस्त प्राणियों पर आत्म-तुल्य बने ।

सूत्र - १५५

संयत-मनुष्य गृहस्थ में रहता हुआ भी क्रमशः समस्त प्राणियों पर समभावयुक्त होकर वह सुव्रती देवलोक को प्राप्त करता है ।

सूत्र - १५६

भगवान के अनुशासन/आज्ञा को सूनकर सत्य का उपक्रम करे । भिक्षु सर्वत्र मात्सर्य-रहित होकर विशुद्ध वृत्ति/चर्या करे ।

सूत्र - १५७

धर्मार्थी वीर्य-उपधान/पराक्रम को सर्वविध जानकर धारण करे । सदा गुप्तियुक्त यत्न करे । इसी से परम आत्मा में स्थिति होती है ।

सूत्र - १५८

वित्त, पशु, ज्ञातिजन को अज्ञानी शरण मानता है । वे मेरे हैं या मैं उनका हूँ; ऐसा मानने पर भी वे न त्राण या शरण नहीं होते ।

सूत्र - १५९

दुःख कर्म-आगमन से या भवउपक्रम होने पर होता है । जीव अकेला ही जाता-आता है । यह मानकर विद्वान किसी को शरण नहीं मानता ।

सूत्र - १६०

सभी प्राणी स्वयंकृत् कर्म से कल्पित हैं । अव्यक्त दुःख से भयाकुल शठपुरुष जाति-मरण के दुःखों से पीड़ित होता हुआ परिभ्रमण करता है ।

सूत्र - १६१

इस क्षण को जाने । बोधि और आत्महित सुलभ नहीं है, ऐसा इन जिनेन्द्र ने और शेष जिनेन्द्रों ने भी कहा है ।

सूत्र - १६२

हे भिक्षु ! पूर्व में सुव्रतों के लिए आदेश था, आगे भी आदेश होगा और अभी भी है । ये गुण काश्यप के धर्म का अनुचरण करने वालों के लिए कथित है ।

सूत्र - १६३

त्रिविध योग से प्राणियों का हनन न करे । आत्महितेच्छु-पुरुष अनिदान एवं संवृत रूप है । सिद्ध इस समय भी अनन्त हैं और अनागत में भी होंगे ।

सूत्र - १६४

इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तरज्ञान-दर्शनधारी, अर्हत् ज्ञातपुत्र भगवान ने वैशाली में कहा । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-२ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-३ – उपसर्गपरिज्ञा

उद्देशक-१

सूत्र - १६५

कायर मनुष्य शिशुपाल की तरह स्वयं को तभी तक शूर एवं महारथ मानता है, जब तक युध्यमान दृढ़धर्मी विजेता कृष्ण को नहीं देख लेता ।

सूत्र – १६६, १६७

संग्राम में उपस्थित हो जाने पर शूरवीर रणशीर्ष हो जाते हैं । जिस प्रकार माता युद्धविक्षिप्त पुत्र को नहीं जानती है ।

इसी प्रकार भिक्षु-चर्या में अकोविद अपुष्ट साधक भी अपने आपको तभी तक शूरवीर मानता है जब तक वह रुक्ष संयम का सेवन नहीं कर लेता ।

सूत्र - १६८

जब हेमन्त माह में ठंड़ी हवा लगती है, तब मन्द पुरुष वैसे ही विषाद करते हैं जैसे राज्य से च्युत क्षत्रिय विषाद करता है ।

सूत्र - १६९

जब ग्रीष्म-ताप से स्पृष्ट होकर मनुष्य विमनस्क और पिपासित हो जाते हैं, तब वे वैसे ही विषाद करते हैं जैसे थोड़े जल में मछली विषाद करती है ।

सूत्र - १७०

दत्तैषणा सदा दुःख है । याचना दुष्कर है । साधारण जन यह कहते हैं कि ये पाप-कर्म के फल भोग रहे हैं, अभागे हैं ।

सूत्र - १७१

गाँवों में या नगरों में इन शब्दों को सहन न करने वाले मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त करता है, जैसे संग्राम में भयभीत पुरुष विषाद करता है ।

सूत्र - १७२

कोई क्रूर कुत्ता क्षुधित भिक्षु को काटता है, तो मूढ़ भिक्षु वैसे ही दुःखी होता है, जैसे अग्नि-स्पृष्ट होने पर प्राणी दुःखी होता है ।

सूत्र - १७३

प्रतिकूल पथ पर चलने वाले कुछ लोग बोलते हैं कि ये इस प्रकार का जीवन जीने वाले प्रतिकार करते हैं

सूत्र - १७४

कुछ लोग कहते हैं कि ये नग्न है, पिंडलोलक, अधम, मुण्डित, कण्डुक, विकृत अङ्गी, स्नानहीन और असमाहित है ।

सूत्र - १७५

उनमें जो अज्ञानी एवं विप्रतिपन्न हैं, वे मोह से विवेकमूढ़ होकर अन्धकार से गहन अन्धकारमें चले जाते हैं

सूत्र - १७६

मुनि डांस-मच्छरों के काटने तथा तृण-स्पर्श न सहने के कारण सोचता है मैंने परलोक नहीं देखा है, अतः मृत्यु के अतिरिक्त और क्या होगा ?

सूत्र - १७७

केशलुंचन से संतप्त और ब्रह्मचर्य पालन से पराजित मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त करता है जैसे जाल में फँसी मछलियाँ विषाद करती हैं ।

सूत्र - १७८

आत्मघाती आचार वाले, मिथ्यात्वस्थित, हर्ष और द्वेष से युक्त कुछ अनार्य-पुरुष साधु को पीड़ा देते हैं ।

सूत्र - १७९

कुछ अज्ञानी लोग सुव्रती भिक्षु को गुप्तचर एवं चोर समझकर कषाय-वचन से बाँध देते हैं ।

सूत्र - १८०

वहाँ डंडे, मुष्टि अथवा फलक से पीटे जाने पर वह अज्ञ अपने ज्ञातिजनों को वैसे ही याद करता है, जैसे क्रुद्धगामी स्त्री याद करती है ।

सूत्र - १८१

हे वत्स ! ये समस्त स्पर्श दुस्सह और कठोर है । इनसे विवश होकर भिक्षु वैसे ही घर लौट आता है, जैसे बाणों से आहत हाथी । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-३ – उद्देशक-२

सूत्र - १८२

ये सभी सूक्ष्म संग (सम्बन्ध) भिक्षुओं के लिए उपसर्ग है । यहाँ जो कोई साधु विषदा करते हैं, वे संयम-यापन में समर्थ नहीं हो पाते ।

सूत्र - १८३

कुछ ज्ञातिजन प्रव्रज्यमान भिक्षु को देखकर/घेरकर रोते हैं । कहते हैं तात ! हमारा पालन-पोषण करो, हमें संतुष्ट करो, हमें किसलिए छोड़ रहे हो ?

सूत्र - १८४

हे तात ! तुम्हारे पिता वृद्ध हैं, यह तुम्हारी बहिन छोटी है, तात ! तुम्हारे ये सहोदर आज्ञाकारी हैं, फिर तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?

सूत्र - १८५

तात ! तुम माता-पिता का पोषण करो, इससे लोक सफल होगा । तात ! लौकिक-व्यवहार यही है कि माता-पिता का पालन करना चाहिए ।

सूत्र - १८६

तात ! तुम्हारे उत्तरोत्तर उत्पन्न और मधुरभाषी छोटे-छोटे पुत्र हैं । तात ! तुम्हारी पत्नी नवयौवना है, अतः वह अन्यजन के पास न जा सके ।

सूत्र - १८७

हे तात ! आप घर चलिए । घर का कोई भी काम मत करना । हम सब कार्य संभालेंगे । आप एक दफा से नीकल गए हैं । अब आप वापस अपने घर पधारीए ।

सूत्र - १८८

अगर आप एकबार घर आकर, स्वजनों को मिल जाएंगे तो आप अश्रमण नहीं बन जाएंगे । गृहकार्य में ईच्छा रहित होकर अपनी रुचि अनुसार कार्य करे तो भी आपको कौन रोकने वाला है ?

सूत्र - १८९

हे तात ! आपके ऊपर जो कर्ज था वह भी हमने बाँट लिया है और आपको व्यवहार चलाने के लिए जितना धन-सुवर्ण आदि चाहिए वह भी हम आपको देंगे ।

सूत्र - १९०

इस प्रकार करुणार्द्र हो कर बन्धु साधु को शिक्षा वचन कहते हैं । उस ज्ञातिजनों के संग से बंधा हुआ भारे कर्मी आत्मा प्रव्रज्या छोड़कर घर वापस आ जाता है ।

सूत्र - १९१

जिस तरह वन में उत्पन्न हुए वृक्ष को वनलताएं बांध लेती हैं, उसी तरह साधु के चित्त में अशांति उत्पन्न करके उनको ज्ञातिजन अपने स्नेहपाश में बांध लेते हैं ।

सूत्र - १९२

जब वह साधु स्वजनवर्ग के स्नेह में बंध जाता है; तब वे स्वजन उस साधु को ऐसे रखते हैं, जैसे पकड़ा हुआ नया हाथी । या नव प्रसूता गाय अपने बछड़े को अलग नहीं होने देती वैसे ही वे परिवारजन उस घर आए साधु के निकट ही रहते हैं ।

सूत्र - १९३

स्वजन आदि का यह स्नेह मनुष्यों के लिए समुद्र की तरह दुस्तर है । स्वजन आदि में मूर्च्छित होकर असमर्थ बना हुआ मनुष्य क्लेश को प्राप्त करता है ।

सूत्र - १९४

स्वजन संग को संसार का कारण मानकर साधु उसका त्याग करे क्योंकि स्नेह संबंध कर्म का महाआश्रव द्वार है । सर्वज्ञ कथित अनुत्तर धर्म का श्रवण करके साधु असंयमी जीवन की ईच्छा न करे ।

सूत्र - १९५

काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर ने यह स्नेह सम्बन्धों को आवर्त की उपमा दी है । जो ज्ञानी पुरुष हैं, वह तो इससे दूर हो जाता है मगर अज्ञानी इस स्नेह में आसक्त हो कर दुःखी होते हैं ।

सूत्र - १९६

चक्रवर्ती आदि राजा, राजमंत्री, पुरोहित आदि ब्राह्मण एवं अन्य क्षत्रियजन आदि, उत्तम आचरण से जीवन बीताने वाले साधु को भोग के लिए निमंत्रित करते हैं ।

सूत्र – १९७,१९८

यह चक्रवर्ती आदि कहते हैं, हे महर्षि ! आप यह रथ, अश्व, पालखी आदि यान में बैठीए, चित्तविनोद आदि के लिए उद्यान आदि में चलिए ।

आयुष्मन् ! वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियाँ, शयन आदि भोग्य भोगों को भोगो । हम तुम्हारी पूजा करते हैं ।

सूत्र - १९९

हे सुव्रत ! तुमने मुनिभाव में जो नियम धारण किया है, वह सब घर में निवास करने पर भी उसी तरह बना रहेगा ।

सूत्र - २००

चिर-विचरणशील के लिए इस समय दोष कैसा ? वे नीवार (आहारादि) से सूकर की तरह मुनि को निमंत्रित करते हैं ।

सूत्र - २०१

भिक्षुचर्या में प्रवृत्त होते हुए भी मन्द पुरुष वैसे ही विषाद ग्रस्त होते हैं, जैसे चढ़ाई में दुर्बल (बैल) विषाद करता है ।

सूत्र - २०२

संयम पालन में असमर्थ तथा तपस्या से तर्जित मंद पुरुष वैसे ही विषाद करते हैं, जैसे कीचड़ में वृद्ध बैल विषाद करता है ।

सूत्र - २०३

इस प्रकार निमंत्रण पाकर स्त्री-गृद्ध, काम-अध्युपपन्न बने भिक्षु गृहवास की ओर उद्यम कर बैठते हैं । – ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-३ – उद्देशक-३

सूत्र - २०४

जैसे युद्ध के समय भीरु पृष्ठ भाग में गढ़े, खाई और गुफा का प्रेक्षण करता है, क्योंकि कौन जाने कब पराजय हो जाए ।

सूत्र – २०५,२०६

मुहूर्तों के मुहूर्त्तमें ऐसा भी मुहूर्त्त आता है, जब पराजित को पीछे भागना पड़ता है । इसलिए भीरु पीछे देखता है । इसी प्रकार कुछ श्रमण स्वयं को निर्बल समझकर अनागत भय को देखकर श्रुत का अध्ययन करते हैं ।

सूत्र - २०७

कौन जाने पतन स्त्री से होता है या जल से । पूछे जाने पर कहूँगा कि हम इस कार्य में प्रकल्पित नहीं हैं ।

सूत्र - २०८

विचिकित्सा-समापन्न अकोविद श्रमण वलयादि का प्रतिलेख करते हुए पंथ देखते हैं ।

सूत्र - २०९

जो शूर-पुरंगम विख्यात हैं, वे संग्रामकाल में पीछे नहीं देखते । भला, मरण से ज्यादा और क्या होगा ?

सूत्र - २१०

इस प्रकार संयम समुत्थित भिक्षु अगार बन्धन का विसर्जन कर और आरम्भ को छोड़कर आत्म-हित के लिए परिव्रजन करे ।

सूत्र - २११

साधु जीवी भिक्षु की कुछ लोग निन्दा करते हैं । जो इस प्रकार निन्दा करते हैं, वे समाधि से दूर हैं ।

सूत्र - २१२

समकल्प-सम्बद्ध/गृहस्थ लोग एक दूसरे में मूर्च्छित रहते हैं । ग्लान को आहार लाकर देते हैं, सम्हालते हैं

सूत्र - २१३

इस प्रकार तुम सब सरागी और एक दूसरे के वशवर्ती, सत्पथ एवं सद्भाव रहित तथा संसार के अपारगामी हो ।

सूत्र – २१४,२१५

इस प्रकार कहने पर मोक्ष विशारद भिक्षु उन्हें कहे की इस प्रकार बोलते हुए तुम लोग द्विपक्ष का ही सेवन कर रहे हो । तुम पात्र में भोजन करते हो, ग्लान के लिए भोजन मँगवाते हो, बीज और कच्चे जल का उपयोग करते हो और मुनि के उद्देश्य से भोजन बनाते हो ।

सूत्र - २१६

मनुष्य तीव्र अभिताप से लिप्त, विवेक रहित और असमाहित है, किन्तु कामभोग के घाव को अधिक खुजलाना श्रेयस्कर नहीं है । यह अपराध को प्रोत्साहन है ।

सूत्र - २१७

ज्ञानी भिक्षु अप्रतिज्ञ होकर उन अनुशिष्ट लोगों से तत्त्व-पूर्वक कहे–आपका यह मार्ग नियत/युक्ति संगत नहीं है । आपकी कथनी और करनी भी असमीक्ष्य है ।

सूत्र - २१८

गृहस्थ द्वारा लाये हुए आहार का उपभोग श्रेयस्कर है; भिक्षु द्वारा लाये हुए का नहीं–यह कथन बाँस के अग्रभाग की तरह कमझोर है ।

सूत्र - २१९

जो धर्म-प्रज्ञापना है वह आरम्भ की विशोधिका है । इन दृष्टियों से पूर्व में यह प्रकल्पना नहीं थी ।

सूत्र - २२०

समग्र युक्तियों से अपना मत-स्थापन अशक्य लगने पर लोग वाद को छोड़कर प्रगल्भिता में उतर आते हैं ।

सूत्र - २२१

राग दोष/द्वेष से अभिभूत और मिथ्यात्व से अभिद्रुत/ओतप्रोत वे वैसे ही आक्रोश की शरण स्वीकार कर लेते हैं, जैसे तङ्गण (अनार्य) पर्वत को स्वीकारता है ।

सूत्र - २२२

आत्मगुण समाहित पुरुष बहुगुण निष्पन्न चर्चा करे । वह वैसा आचरण करे जिससे कोई विरोधी न हो ।

सूत्र - २२३

काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित धर्म को प्राप्त कर भिक्षु अग्लान-भाव से ग्लान की सेवा करे ।

सूत्र - २२४

दृष्टिमान व परिनिवृत्त भिक्षु श्रेयस्कर धर्म को जानकर मोक्ष प्राप्ति होने तक उपसर्गों का नियमन करते हुए परिव्रजन करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-३ – उद्देशक-४

सूत्र – २२५, २२६

तप्त तपोधनी महापुरुष पहले जल से सिद्धि सम्पन्न कहे गए हैं । किन्तु मंद पुरुष वहाँ विवाद करता है ।

वैदेही नमि भोजन छोड़कर और रामगुप्त भोजन करते हुए तथा बाहुक और नारायण ऋषि जल पीकर (सिद्धि सम्पन्न कहे गए हैं ।)

सूत्र - २२७

महर्षि आसिल, देविल, द्वीपायन एवं पराशर जल, बीज और हरित का सेवन करते हुए सिद्धि (सम्पन्न कहे गए हैं ।)

सूत्र - २२८

पूर्वकालिक ये महापुरुष इस समय भी मान्य एवं कथित हैं । इन्होंने बीज एवं जल का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी, ऐसा मैंने परम्परा से सूना है ।

सूत्र - २२९

वहाँ मन्द-पुरुष वैसे ही विषाद करते हैं, जैसे भार ग्रस्त गधा । भार के सम्भ्रम से वे पीछे चलते रहते हैं ।

सूत्र - २३०

कुछ लोग यह कहते हैं कि साता के द्वारा ही साता विद्यमान होती है । यहाँ आर्य मार्ग ही परम (मोक्षकार) है, समाधिकर है ।

सूत्र - २३१

इस अप-सिद्धान्त को मानते हुए तुम अल्प के लिए अधिक का लुम्पन मत करो । इसको न छोड़ने पर तुम लोह वणिक की तरह पछताओगे ।

सूत्र - २३२

वे प्राणों के अतिपात में वर्तनशील, मृषावाद में असंयत अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में सक्रिय है ।

सूत्र - २३३

जिनशासन-पराङ्मुख, स्त्री-वशवर्ती, अज्ञानी, अनार्य कुछ पार्श्वस्थ इस प्रकार कहते हैं–

सूत्र - २३४

जैसे गाँठ या फोड़े को मुहूर्त्त भर के लिए परपीड़ित किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों के साथ समझने में दोष कहाँ है ?

सूत्र - २३५

जैसे 'मन्धादक' (भेड़) जल को अव्यवस्थित किये बिना पी लेती है, इसी प्रकार वही विज्ञापन स्त्रियों के साथ हो तो वहाँ दोष कहाँ है ?

सूत्र - २३६

जैसे पिंग पक्षिणी जल को अव्यवस्थित किये बिना पी लेती है वही विज्ञापन स्त्रियों के साथ हो, तो वहाँ दोष कहाँ है ?

सूत्र - २३७

इस प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि, अनार्य, पार्श्वस्थ वैसे ही कामभोग में अध्युपपन्न रहते हैं, जैसे स्त्री तरुण में आसक्त रहती है ।

सूत्र - २३८

अनागत को ओझलकर जो मात्र प्रत्युत्पन्न/वर्तमान की गवेषणा करते हैं, वे आयुष्य और यौवन क्षीण होने के बाद में परितप्त होते हैं ।

सूत्र - २३९

जिन्होंने समय रहते (धर्म) पराक्रम किया है, वे बाद में परितप्त नहीं होते । वे बन्धन-मुक्त धीर-पुरुष जीवन की आकांक्षा नहीं करते ।

सूत्र - २४०

जैसे वैतरणी नदी दुस्तर समझी गई है, वैसे ही अमतिमान् के लिए इस लोक में नारी दुस्तर है ।

सूत्र - २४१

जिन्होंने नारी-संयोग की अभ्यर्थना को पीठ दिखा दी है, वे इन सबको निराकृत करके सम्यक्-समाधि में स्थित होते हैं ।

सूत्र - २४२

जहाँ प्राणी स्वकर्मानुसार विषण्णासीन कृत्य करते हैं, उस ओघ को वे कामजयी वैसे ही तैर जाते हैं, जैसे व्यापारी समुद्र को तैर जाते हैं ।

सूत्र - २४३

इसे जानकर भिक्षु सुव्रत और समित होकर विचरण करे । मृषावाद को और अदत्तादान का विसर्जन करे

सूत्र - २४४

ऊर्ध्व, अधो अथवा तिर्यक् लोक में जो कोई भी त्रस-स्थावर प्राणी है, उनसे विरति करे, क्योंकि शांति ही निर्वाण कही गई है ।

सूत्र - २४५

काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित इस धर्म को स्वीकार कर भिक्षु अग्लान भाव से रुग्ण की सेवा करे ।

सूत्र - २४६

सम्यक् द्रष्टा और परिनिवृत्त भिक्षु पवित्र धर्म को जानकर उपसर्गों का नियमन कर मोक्ष प्राप्ति तक परिव्रजन करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-३ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-४ – स्त्रीपरिज्ञा

उद्देशक-१

सूत्र - २४७

जो माता, पिता तथा पूर्व संयोग को छोड़कर संकल्प करता है–मैं अकेला ही मैथुन से विरत होकर विवक्त (एकान्त) स्थानों में विचरण करूँगा ।

सूत्र - २४८

मन्द स्त्रियाँ सूक्ष्म एवं स्वच्छन्द पराक्रम कर उस उपाय को भी जानती हैं जिससे कुछ भिक्षु श्लिष्ट होते हैं

सूत्र - २४९

वे साधु के पास बैठती हैं, पोष-वस्त्र (संधारण वस्त्र) ढीला करती हैं, बाँधती हैं । अधोकाय का दर्शन कराती है तथा बाहु उठाकर काँख बजाती है ।

सूत्र - २५०

कभी वे स्त्रियाँ समयोचित शयन आसन के लिए उसे निमंत्रित करती हैं । इससे मुनि को यह समझना चाहिए कि ये विविध प्रकार के पाश हैं ।

सूत्र - २५१

मुनि उन पर आँख न गड़ाए । न उनके इस साहस का समर्थन करे । साथ में विचरण भी न करे । इससे आत्मा सुरक्षित होती है ।

सूत्र - २५२

वे भिक्षु को आमन्त्रित/लुब्ध या उपशमित कर स्वयं निमंत्रण देती हैं । पर (मुनि) इन शब्दों को नाना प्रकार के बन्धन समझे ।

सूत्र - २५३

वे मन को बाँधने वाली करुण, विनीत अथवा मंजुल भाषा बोलती हैं । भिन्न कथा से आज्ञा भी देती हैं ।

सूत्र - २५४

स्त्रियाँ संवृत और अकेले अनगार को (मोहपाश में) वैसे ही बाँध लेती हैं, जैसे प्रलोभन पाश में निर्भय एगचारी सिंह को बाँधता है ।

सूत्र - २५५

फिर वे क्रमशः साधु को वैसे ही झुका लेती हैं, जैसे रथकार धुरी को । वह मुनि पाश में बद्ध मृग की तरह स्पंदमान होने पर भी उससे मुक्त नहीं हो पाता ।

सूत्र - २५६

बाद में वह वैसे ही अनुतप्त होता है । जैसे विषमिश्रित खीर खाकर मनुष्य । इस तरह विवेक प्राप्त कर भिक्षु स्त्री के साथ सहवास न करे ।

सूत्र - २५७

इसलिए स्त्री को विषलिप्त काँटा जानकर वर्जन करना चाहिए । जो ओजस्वी पुरुष कुलों में स्त्रियों को वश करने की बात भी कहता है तो वह निर्ग्रन्थ नहीं है ।

सूत्र - २५८

जो अनुगृद्ध होकर ऊञ्छवृत्ति करते हैं । वे कुशीलों में अन्यतर हैं । जो सुतपस्वी भिक्षु हैं वे भी स्त्रियों के साथ विहरण न करे ।

सूत्र - २५९

पुत्री, पुत्र-वधू, धातृ, दासी या बड़ी अथवा कुमारी के साथ भी अनगार संस्तव न करे ।

सूत्र - २६०

अप्रिय स्थिति में भिक्षु को देखकर ज्ञातिजनों एवं मित्रों को एकदा ऐसा होता है–कि यह भिक्षु कामभोगों में गृद्ध एवं आसक्त है । (वे कहते हैं) तुम ही इस स्त्री के रक्षण-पोषण करने वाले मनुष्य हो ।

सूत्र - २६१

उदासीन श्रमण को ऐसी स्थिति में देखकर कुछ व्यक्ति कुपित हो जाते हैं । उन्हें न्यस्त भोजन में स्त्री-दोष की शंका होती है ।

सूत्र - २६२

समाधि योग से भ्रष्ट श्रमण ही उन (स्त्रियों) के साथ संस्तव करते हैं । इसलिए श्रमण आत्महित की दृष्टि से उसकी शय्या के निकट नहीं जाते ।

सूत्र - २६३

अनेक लोग/श्रमण गार्हस्थ्य का अपहरण कर मिश्र भाव प्रस्तुत करते हैं । वे वाग्वीर/कुशील उसे ही ध्रुव-मार्ग कहते हैं ।

सूत्र - २६४

वह परीषद् में स्वयं को शुद्ध बतलाता है पर एकान्त में दुष्कर्म करता है । तत्ववेत्ता उसे जानते हैं कि यह मायावी है, महाशठ है ।

सूत्र - २६५

वह अपना दुष्कृत नहीं बतलाता । आविष्ट होने पर वह बाल-पुरुष आत्म-प्रशंसा करता है । स्त्री-वेद का अनुचिन्तन मत करो-इस वाणी-उद्यम से वह खिन्न होता है ।

सूत्र – २६६, २६७

जो पुरुष स्त्रियों के साथ सहवास कर चूके हैं, स्त्रीवेद के परिसर के ज्ञाता हैं उनमें कुछ प्रज्ञा से समन्वित होते हुए भी स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं । व्यभिचारी मनुष्यों के हाथ-पैर छेद कर, आग में सेककर, चमड़ी माँस नीकालकर उसके शरीर को क्षार से सिंचित किया जाता है ।

सूत्र - २६८

नाक, कान एवं कंठ के छेदित होने पर भी पाप से संतप्त पुरुष यह नहीं कहते कि हम पुनः ऐसा पाप नहीं करेंगे ।

सूत्र - २६९

यह लोक श्रुति है एवं स्त्री-वेद में भी कथित है कि स्त्रियाँ कही हुई बात का कर्मणा पालन नहीं करती ।

सूत्र - २७०

वह मन से चिन्तन कुछ और करती है वाणी से कुछ और तथा कर्म कुछ और ही करती है । इसलिए भिक्षु स्त्रियों को बहुमायावी जानकर उन पर श्रद्धा न करे ।

सूत्र - २७१

विविध वस्त्र एवं अलंकार से विभूषित युवती श्रमण से कहती हैं । भदन्त ! मुझे धर्मोपदेश दे । मैं विरत हो गई हूँ, संयम का पालन करूँगी ।

सूत्र – २७२, २७३

अथवा श्राविका होने के कारण मैं तुम्हारी सहधर्मिणी हूँ । किन्तु विद्वान स्त्री के साथ सहवास से वैसे विषाद करता है, जैसे अग्नि के सहवास से लाख का घड़ा ।

जैसे लाख का घड़ा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही स्त्री-सहवास से अनगार विनष्ट हो जाता है ।

सूत्र - २७४

कुछ लोग/भिक्षु पाप-कर्म करते हैं पर पूछने पर कहते हैं–मैं पाप नहीं करता हूँ । यह स्त्री मेरी अंक-शायिनी रही है ।

सूत्र - २७५

बाल पुरुष की यह दोहरी मंदता है कि वह कृत् को अस्वीकार करता है । वह पूजा-कामी विषण्णता की एषणा करने वाला दुगुना पाप करता है ।

सूत्र - २७६

अवलोकनीय आत्मगत अनगार को वह निमंत्रण करती हुई कहती है तारक ! वस्त्र या पात्र या अन्न अथवा पानी ग्रहण करे ।

सूत्र - २७७

भिक्षु इसे प्रलोभन समझे । घर आने की ईच्छा न करे । विषय-पाश में बंधने वाला मन्द पुरुष पुनः मोह में लौट आता है । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-४ – उद्देशक-२

सूत्र - २७८

ओजवान् सदा अनासक्त रहे । भोगकामी पुनः विरक्त हो जाए । श्रमणों के भोगों को सूनो, जैसा कुछ भिक्षु भोगते हैं ।

सूत्र – २७९, २८०

(स्त्रियाँ उस) भेद विज्ञान शून्य, मूर्च्छित एवं काम में अतिप्रवृत भिक्षु को वश में करने के पश्चात् पैर से उसके मस्तिष्क पर प्रहार करती है ।

वह कहती हैं–भिक्षु ! मेरे केशों के कारण यदि तुम मेरे साथ विहरण करना नहीं चाहते तो मैं केशलुंचन भी कर लूँगी । तुम मुझे छोड़कर अन्यत्र विचरण मत करो ।

सूत्र - २८१

जब भिक्षु उसे उपलब्ध हो जाता है तब उसे इधर-उधर प्रेषित करती है । (वह कहती है) लौकी काटो, उत्तम फल लाओ ।

सूत्र - २८२

शाक पकाने के लिए काष्ठ (लाओ जिससे) रात्रि में प्रकाश भी होगा । मेरे पैर रचाओ और आओ मेरी पीठ मल दो ।

सूत्र - २८३

मेरे वस्त्रों का प्रतिलेख करो । अन्न पान ले आओ । गंध एवं रजोहरण लाओ । नांपित को भी बुलाओ ।

सूत्र - २८४

अन्जनी, अलंकार और वीणा लाओ । लोध्र व लोध्र-कुसुम, बासुरी और गुटिका लाओ ।

सूत्र - २८५

कोष्ठ तगर, अगर, उशीर से संपृष्ट चूर्ण, मुँह पर लगाने के लिए तेल एवं बाँस की संदूक लाओ ।

सूत्र - २८६

नंदी-चूर्ण छत्र उपानत् एवं सूप छेदन के लिए शस्त्र लाओ । नील से वस्त्र रंग दो ।

सूत्र - २८७

शाक पकाने के लिए सूफणि (पात्र), आंबले, घर, तिलक करणी, अंजन-शलाका तथा ग्रीष्म ऋतु के लिए पंखा लाओ ।

सूत्र - २८८

संदशक, कधी और केश कंकण लाओ, दर्पण प्रदान करो । दन्त प्रक्षालन का साधन दो ।

सूत्र - २८९

सुपारी, ताम्बूल, सूई-धागा, मूत्र-पात्र, मोय मेह (पीकदान), सूप, ऊखल एवं गालन के लिए पात्र लाओ ।

सूत्र - २९०

आयुष्मन् ! पूजा-पात्र और लघु-पात्र लाओ । शौचालय का खनन करो । पुत्र के लिए शरपात (धनुष) एवं श्रामणेर के लिए गोरथक (तीन वर्ष का बैल) लाओ ।

सूत्र - २९१

कुमार के लिए घंटा, डमरू, और वस्त्र से निर्मित गेंद लादो । भर्ता ! देखो वर्षा ऋतु सन्निकर है, अतः आवास की शोध करो ।

सूत्र - २९२

नव सूत्र निर्मित आसन्दिक (चारपाई) और संक्रमार्थ/चलने के लिए काष्ठपादुका लाओ । पुत्र-दोहद पूर्ति के लिए भी ये दास की तरह आज्ञापित होते हैं ।

सूत्र - २९३

पुत्र उत्पन्न होने पर आज्ञा देती है इसे ग्रहण करो अथवा छोड़ दो । इस तरह कुछ पुत्र-पोषक ऊंट की तरह भारवाही हो जाते हैं ।

सूत्र - २९४

रात्रि में जागृत होने पर पुत्र को धाय की तरह पुनः सूलाते हैं । वे लज्जित होते हुए भी रजक की तरह वस्त्र प्रक्षालक हो जाते हैं ।

सूत्र - २९५

इस प्रकार पूर्व में अनेकों ने ऐसा किया है । जो भोगासक्त हैं वे दास, मृग एवं पशुवत् हो जाते हैं । वे पशु के अतिरिक्त कुछ नहीं हो पाते ।

सूत्र - २९६

इस प्रकार उन (स्त्रियों) के विषय में विज्ञापित किया गया । भिक्षु स्त्री संस्तव एवं संवास का त्याग करे । ये काम वृद्धिगत है, इन्हें वर्ज्यकर कहा गया है ।

सूत्र - २९७

ये भयोत्पादक है । श्रेयस्कर नहीं है । अतः भिक्षु आत्म-निरोध करके स्त्री, पशु, स्वयं एवं प्राणियों (के गुह्यांगों) का स्पर्श न करे ।

सूत्र - २९८

विशुद्ध लेश्यी, मेघावी, ज्ञानी परक्रिया (स्त्री-सेवन) न करे । वह अनगार मन, वचन और काया से सभी स्पर्शों को सहन करे ।

सूत्र - २९९

इस तरह वीर ने कहा है–राग और मोह को धुनने वाला भिक्षु है । इसलिए अध्यात्म-विशुद्ध सुविमुक्त भिक्षु मोक्ष अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे ।

अध्ययन-४ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-५ – नरकविभक्ति

उद्देशक-१

सूत्र - ३००

मैंने केवली महर्षि से पूछा कि नरक में क्या अभिताप है । मुने ! मैं इस तथ्य से अनभिज्ञ हूँ आप अभिज्ञ हैं। अतः कहें कि अज्ञानी नरक में कैसे जाते हैं ?

सूत्र - ३०१

मेरे द्वारा ऐसे पूछने पर महानुभाव, आशुप्रज्ञ, काश्यप ने यह कहा कि यह दूर्ग/विषम एवं दुःखदायी है । जिसमें दीन एवं दुराचारी जीव रहते हैं, मैं प्रवेदित करूँगा ।

सूत्र – ३०२, ३०३

इस संसार में कुछ जीवितार्थी मूढ़ जीव रौद्र पाप कर्म करते हैं, वे घोर, सघन अन्धकारमय, तीव्र सन्तप्त नरक में गिरते हैं । जो आत्म-सुख के निमित्त त्रस और स्थावर जीवों की तीव्र हिंसा करता है, भेदन करता है, अदत्ताहारी है और सेवनीय का किंचित् अभ्यास नहीं करता है ।

सूत्र - ३०४

प्रमादी अनेक प्राणियों का अतिपाती, अनिवृत्त एवं अज्ञानी आघात पाता है । अन्तकाल में निन्दने रात्रि की ओर जाता है और अधोशिर होकर नरक में उत्पन्न होता है ।

सूत्र – ३०५, ३०६

हनन करो, छेदन करो, भेदन करो, जलाओ–परमाधर्मियों के ऐसे शब्द सूनकर वे नैरयिक भय से असंज्ञी हो जाते हैं और आकांक्षा करते हैं कि हम किस दिशा में चलें । वे प्रज्वलित अङ्गार राशि के समान ज्योतिमान् भूमि पर चलते हैं, दह्यमान करुण क्रन्दन करते हैं । वहाँ चिरकाल तक रहते हैं ।

सूत्र – ३०७-३०९

तुमने क्षुरे जैसी तीक्ष्णश्रोता अति दुर्गम वैतरणी नदी का नाम सूना होगा । बाणों से छेदित एवं शक्ति से हन्यमान वे दुर्गम वैतरणी नदीमें तैरते हैं । वहाँ क्रूरकर्मी नौका के निकट आते ही उन स्मृतिविहीन जीवों के कण्ठ कीलसे बाँधते हैं । अन्य उन्हें दीर्घ शूलों और त्रिशूलों से बींधकर गिराते हैं । कुछ जीवोंके गलेमें शिला बाँधकर उन्हें गहरे जल में डूबो देते हैं । फिर कलम्बु पुष्प समान लाल गर्म बालु में और मुर्मराग्नि में लोट-पोट करते हैं, पकाते हैं

सूत्र – ३१०, ३११

महासंतापकारी, अन्धकाराच्छादित, दुस्तर तथा सुविशाल असूर्य नामक नरक है जहाँ उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक दिशाओं में अग्नि धधकती रहती है । जिस गुफा में लुप्तप्रज्ञ, अविज्ञायक, सदा करुण एवं ज्वलनशील स्थान के अति दुःख को प्राप्त कर नरक जलने लगता है ।

सूत्र - ३१२

क्रूरकर्मा चतुराग्नि प्रज्वलित कर नरक को अभितप्त करते हैं । वे अभितप्त होकर वहाँ वैसे ही रहते हैं जैसे अग्नि में जीवित मछलियाँ रहती हैं ।

सूत्र - ३१३

संतक्षण नामक महाभितप्त नरक है, जहाँ अशुभकर्मी नारकियों को हाथ एवं पैर बाँधकर हाथ में कुठार लेकर उन्हें फलक की तरह छीला जाता है ।

सूत्र – ३१४-३१७

रुधिर से लिप्त, मल से लतपथ, भिन्नांग एवं परिवर्तमान नैरयिकों को कड़ाही में जीवित मछलियों की तरह उलट-पलट कर पकाते हैं ।वे वहाँ राख नहीं होते हैं और न ही तीव्र वेदना से मरते हैं । वे अपने कृतकर्म का वेदन करते हैं और वे दुःख दुष्कृत से और अधिक दुःखी होते हैं ।वहाँ शीत से सन्त्रस्त होकर प्रगाढ़ सुतप्त अग्नि

की ओर जाते हैं । वहाँ उस दुर्गम स्थान में वे साता प्राप्त नहीं कर पाते । निरन्तर अभितप्त स्थान में तपाये जाते हैं वहाँ दुःखोपनीत शब्द नगरवध की तरह सूनाई देते हैं । उदीर्णकर्मी उदीर्णकर्मियों को पुनः पुनः दुःख देते हैं।

सूत्र - ३१८

ये पापी प्राणों का वियोजन करते हैं । यथार्थ कारण तुम्हें बताऊंगा । अज्ञानी दण्ड से संतप्त कर पूर्वकृत् सर्व पापों का स्मरण कराते हैं ।

सूत्र – ३१९, ३२०

वे हन्यमान महाभिताप होने पर दुरुपपूर्ण नरक में गिरते हैं, वे दुरुप/माँस भक्षी हो जाते हैं । कर्मवशात् कृमियों द्वारा काटे जाते हैं । उनका सम्पूर्ण स्थान सदा तप्त एवं अति दुःखमय है । वे उन्हे बेड़ियों में कैद कर उनके शरीर एवं सिर को छेदित कर अभिताप देते हैं ।

सूत्र – ३२१, ३२२

वे उस अज्ञानी के नाक, औठ और कान छूरे से काट देते हैं । जिह्वा को वित्त मात्रा में बाहर नीकाल कर तीक्ष्ण शूलों से अभिताप देते हैं । वे मूढ़ तल (ताड़-पत्र) संपुट की तरह संपुटित कर देने पर रात-दिन क्रन्दन करते हैं । तप्त तथा क्षारप्रदिग्ध अङ्गों से मवाद, माँस और रक्त गिरता है ।

सूत्र - ३२३

यदि तुमने सूना हो, वहाँ पुरुष से भी अधिक प्रभावशाली और ऊंची एक कुम्भी है । वह रक्त और मवाद की पाचक, नव प्रज्वलित अग्नि अभितप्त और रक्त तथा मवाद से पूर्ण है ।

सूत्र - ३२४

वे उन आर्तस्वरी तथा करुणक्रन्दी अज्ञानी नारकियों को कुम्भी में प्रक्षिप्त कर पकाते हैं । वहाँ पिपासातुर होने पर शीशा एवं ताम्बा पिलाने पर वे आर्तस्वर करते हैं ।

सूत्र - ३२५

पूर्ववर्ती अधमभवों में हजारों बार अपने आप को छलकर वे बहुक्रूरकर्मी वहाँ रहते हैं । जैसा कृत्कर्म होता है वैसा ही उसका भार/फल होता है ।

सूत्र - ३२६

इष्ट-कांत विषयों से विहीन अनार्य कलुषता उपार्जित कर एवं कर्मवशवर्ती होकर कृष्ण-स्पर्शी और दुर्गंधित अपवित्र स्थान में निवास करते हैं । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-५ – उद्देशक-२

सूत्र - ३२७

अब मैं शाश्वत दुःखधर्मों द्वीतिय नरक के सम्बन्ध में यथातथ्य कहूँगा । अज्ञानी जैसे दुष्कर्म करते हैं वैसे ही पूर्वकृत् कर्मों का वेदन करते हैं ।

सूत्र - ३२८

हाथ और पैर बाँधकर उनका पेट छूरे एवं तलवार से काटते हैं । उस अज्ञानी के शरीर को पकड़कर क्षत-विक्षत कर पीठ की स्थिरता को तोड़ देते हैं ।

सूत्र - ३२९

वे नारक की बाहु समूल काट देते हैं । उसके मुँह को स्थूल गोलों से जलाते हैं । उस अज्ञानी को रथ में योजित कर चलाते हैं एवं रुष्ट होने पर पीठ पर कोड़े मारते हैं ।

सूत्र - ३३०

लोह के समान तप्त, ज्वलित, सज्योति भूमि पर चलते हुए वे दह्यमान नारक करुण क्रन्दन करते हैं । वे बाण से बींधे जाते हैं एवं तप्त जूए में योजित किये जाते हैं ।

सूत्र - ३३१

वे उन अज्ञानियों को रुधिर एवं मवाद से सनी लौह पथ की तरह तप्त भूमि पर चलाते हैं । वे उस दुर्गम स्थान पर चलते हुए बैल की तरह आगे ढकेले जाते हैं ।

सूत्र - ३३२

बहुवेदनामय मार्ग पर गमनशील नारकी सम्मुख गिरने वाली शिलाओं से मारे जाते हैं । सन्तापिनी नामक चिरस्थित एक कुम्भी है, जहाँ असाधु कर्मी संतप्त होते हैं ।

सूत्र - ३३३

वे नारक को कड़ाही में प्रक्षिप्त कर पकाते हैं । तब वे विदग्धमान ऊपर उछलने लगते हैं । उन्हें द्रोण काक अथवा हिंस्र पशु खा जाते हैं ।

सूत्र - ३३४

वहाँ एक अति उच्च निर्धूम अग्नि स्थान है । वहाँ वे शोक-तप्त करुण क्रन्दन करते हैं । बकरे की तरह उनके सिर को नीचा कर खण्ड-खण्ड कर देते हैं ।

सूत्र - ३३५

वहाँ खण्ड-खण्ड में विभक्त उन जीवों को लौह चंचुक पक्षीगण खा जाते हैं । जिसमें पापचेता प्रजा पीड़ित की जाती है ऐसी संजीवनी भूमि चिरस्थिति वाली है ।

सूत्र - ३३६

बेबशर्ती नारक को प्राप्त कर श्वापदवत् तीक्ष्ण शूलों से पीड़ित करते हैं । वे शूल विद्ध करुण रुदन करते हैं। वे एकान्त दु:खी तथा द्विविध ग्लान होते हैं ।

सूत्र - ३३७

नरक में सदा प्रज्वलित विशाल-वध स्थल है । जिसमें बिना काष्ठ अग्नि जलती है । वहाँ बहुक्रूरकर्मी निवास करते हैं, कुछ चिरस्थित नारक उच्च क्रन्दन करते हैं ।

सूत्र - ३३८

वे महती चिता का समारम्भ कर करुण क्रन्दी नारकों को उसमें फेंक देते हैं । वहाँ अग्नि में सिंचित घी की तरह अशुभकर्मी नारक पिघल जाता है ।

सूत्र - ३३९

वह सम्पूर्ण स्थान सदा तप्त, अति दु:खधर्मी है । जहाँ हाथ पैर बांधकर वे शत्रु की तरह डंडों से पीटते हैं ।

सूत्र - ३४०

अज्ञानी की पीठ प्रहार से भग्न की जाती है और शिर लौह घन से भेदित होता है । वे भिन्न देही फलक की तरह तप्त आरों से नियोजित किये जाते हैं ।

सूत्र - ३४१

उस असाधुकर्मी रूद्र के बाण चुभाकर वे उससे हस्ति योग्य भार वहन कराते हैं । उसकी पीठ पर एक, दो या तीन नरकपाल बैठकर मर्म स्थान को बींध डालते हैं ।

सूत्र - ३४२

वे अज्ञानी को प्रविज्जल एवं कंटकाकीर्ण भूमि पर बलात् चलाते हैं । विविध बन्धनों से बाँधते हैं । मूर्च्छित होने पर उन्हें कोट्टवलि की तरह फेंक देते हैं ।

सूत्र - ३४३

नारकीय अन्तरीक्ष में महाभितप्त वैतालिक नामक पर्वत है, वहाँ बहुक्रूरकर्मी नारकीय जीव हजारों बार क्षतविक्षत होते हैं ।

सूत्र - ३४४

रात-दिन परितप्तमान वे दुष्कृतकारी पीड़ित होकर क्रन्दन करते हैं । वे उस एकान्त कूट, विस्तृत और विषम नरक में बाँधे जाते हैं ।

सूत्र - ३४५

पूर्व के शत्रु रुष्ट होकर मुद्‌गल और मूसल लेकर उन्हें भग्न करते हैं । वे भिन्नदेवी रुधिर वमन करते हुए अधोमुख होकर भूमि पर गिर जाते हैं ।

सूत्र - ३४६

सदा कुपित, बुभुक्षित, धृष्ट और विशालकाय, शृगाल एक दूसरे से स्पृष्ट एवं शृङ्खलाबद्ध बहुक्रूरकर्मी नारकों को खा जाते हैं ।

सूत्र - ३४७

अति दूर्ग, पंकिल और अग्नि के तप से पिघले हुए लौह के समान तप्त जल युक्त सदाज्वला नदी है । वे उस अतिदूर्गम नदी में प्रवाहमान एकाकी ही तैरते हैं ।

सूत्र - ३४८

ये दु:ख चिरकाल तक अज्ञानी को निरन्तर स्पर्शित करते हैं । हन्यमान का कोई त्राता नहीं है । एक मात्र वह स्वयं ही उन दु:खों का अनुभव करता है ।

सूत्र - ३४९

पूर्व में जैसा कर्म किया है वही सम्पराय (परभव) में आता है । एकान्त दु:ख के भव का अर्जन कर वे दु:खी अनन्त दु:ख का वेदन करते हैं ।

सूत्र - ३५०

धीर इन नारकीय दु:खों को सूनकर समस्त लोक में किसी की हिंसा न करे । एकान्त द्रष्टा एवं अपरिग्रही होकर लोक का बोध प्राप्त करे, किन्तु वशवर्ती न बने ।

सूत्र - ३५१

इस तरह तिर्यंच, मनुष्य, देव एवं नारक इन चारों में अनन्त विपाक है । वह सभी को ऐसा समझकर धुत का आचरण करता संयम पालन करता हुआ काल की आकांक्षा करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-५ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-६ – वीरस्तुति

सूत्र - ३५२

श्रमणों, माहणों, गृहस्थों और अन्य तीर्थिकों ने पूछा–वह कौन है जिसने शाश्वत और अनुपम धर्म का समुचित समीक्षण कर निरूपण किया ।

सूत्र - ३५३

भिक्षु ! तुम यथातथ्य के ज्ञाता हो, जैसा तुमने सूना है, जैसा निश्चित किया है वैसा कहो–ज्ञात पुत्र का ज्ञान, दर्शन और शील कैसा था ?

सूत्र - ३५४

वे क्षेत्रज्ञ, कुशल, महर्षि, अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे । उन यशस्वी और चक्षुस्पथ में स्थित ज्ञात पुत्र को तुम जानो और उनके धर्म एवं धैर्य को देखो ।

सूत्र - ३५५

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन्हें नित्य अनित्य-दृष्टियों से समीक्षित कर प्रज्ञ ने द्वीप-तुल्य सद्धर्म का कथन किया है ।

सूत्र - ३५६

वे सर्वदर्शी ज्ञानी होकर निरामगन्ध, धृतिमान, स्थितात्मा, सम्पूर्ण लोक में अनुत्तर विद्वान, अपरिग्रही, अभय और अनायु थे ।

सूत्र - ३५७

वे भूतिप्रज्ञ प्रबुद्ध अनिकेतचारी, संसारपारगामी, धीर, अनंतचक्षु, तप्त सूर्यवत् अनुपम देदीप्यमान और प्रदीप्त अग्नि की तरह अंधकार में प्रकाशोत्पादक थे ।

सूत्र - ३५८

यह जिनधर्म अनुत्तर है आशुप्रज्ञ काश्यप मुनि इसके नेता हैं । जैसे स्वर्ग में महानुभाव इन्द्र विशिष्ट प्रभाव शाली एवं हजारों देवों में नेता होता है ।

सूत्र - ३५९

वे प्रज्ञा से समुद्रवत् अक्षय महोदधि से पारगामी अनाविल/विशुद्ध, अकषायी मुक्त तथा देवाधिपति शुक्र की तरह द्युतिमान थे ।

सूत्र - ३६०

जैसे सुदर्शन सब पर्वतों में श्रेष्ठ है वैसे ही सुरालय में आनन्ददाता अनेक गुण सम्पृक्त वे ज्ञातपुत्र वीर्य से प्रतिपूर्ण वीर्य हैं ।

सूत्र - ३६१

सुमेरु का प्रमाण एक लाख योजन है । वह तीन काँडों वाला तथा पांडुक से सुशोभित है । निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है तथा एक हजार योजन अधोभाग में है ।

सूत्र - ३६२

वह गगनचुम्बी सुमेरु पृथ्वी पर स्थित है । जिसकी सूर्य परिक्रमा करता है । वह हेमवर्णीय एवं बहु आनन्द दायी है । वहाँ महेन्द्र आनंदानुभव करते हैं ।

सूत्र – ३६३, ३६४

वह पर्वत अनेक शब्दों से प्रकाशमान है । कंचनवर्णीय है । वह गिरिवर पर्वतों में अनुत्तर है । दुर्गम है और आकाश की तरह दिव्य है ।वह नगेन्द्र पृथ्वी के मध्य स्थित है, सूर्य की तरह शुद्ध लेश्या व्यक्त करता है । वह अपने श्रेय से विविध वर्णीय, मनोरम है और रश्मिमालवत् प्रकाशित हो रहा है ।

सूत्र - ३६५

सुदर्शन पर्वत का यश पर्वतों में श्रेष्ठ कहा जाता है । इसकी उपमा में ज्ञातपुत्र श्रमण, जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील से श्रेष्ठता में उपमित है ।

सूत्र - ३६६

जैसे ऊंचे पर्वतों में निपध तथा वलयाकार पर्वतों में रुचक श्रेष्ठ हैं । वैसे ही जगत में भूतिप्रज्ञ प्राज्ञ मुनियों के मध्य श्रेष्ठ हैं ।

सूत्र - ३६७

उन्होंने अनुत्तर धर्म प्ररूपित कर अनुत्तर एवं श्रेष्ठ ध्यान ध्याया । जो सुशुक्ल फेन की तरह शुक्ल शंख एवं चन्द्रमा की तरह एकांत शुद्ध/शुक्ल है ।

सूत्र - ३६८

महर्षि ज्ञात पुत्र ने ज्ञान, शील और दर्शन-बल से समस्त कर्म-विशोधन कर अनुत्तर तथा सादि अनन्त सिद्ध गति को प्राप्त किया ।

सूत्र - ३६९

जैसे वृक्षों में शाल्मली श्रेष्ठ है, जहाँ सुपर्णकुमार रति का अनुभव करते हैं तथा जैसे वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ कहा गया है वैसे ही भूतिप्रज्ञ ज्ञान और शील में श्रेष्ठ है ।

सूत्र - ३७०

जैसे शब्दों में मेघगर्जन अनुत्तर है, तारागण में चन्द्र महानुभाव/श्रेष्ठ है, गन्धों में चन्दन श्रेष्ठ है वैसे ही मुनियों में अप्रतिज्ञ श्रेष्ठ हैं ।

सूत्र - ३७१

जैसे समुद्रों में स्वयम्भू, नागों में धरणेन्द्र और रसों में इक्षु-रस श्रेष्ठ है वैसे ही तपस्वीयों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ है ।

सूत्र - ३७२

जैसे हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा, पक्षियों में वेणुदेव एवं गरुड़ श्रेष्ठ है वैसे ही निर्वाण-वादियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ है ।

सूत्र - ३७३

जैसे योद्धाओं में विश्वसेन, पुष्पों में अरविन्द, क्षत्रियों में दंतवक्त्र (चक्रवर्ती) श्रेष्ठ है वैसे ही ऋषियों में वर्धमान श्रेष्ठ है ।

सूत्र - ३७४

जैसे दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यवचनों में निष्पाप सत्य, तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है, वैसे ही श्रमण ज्ञात पुत्र लोकोत्तम है ।

सूत्र – ३७५, ३७६

जैसे स्थिति (आयु) में लव सप्तमदेव श्रेष्ठ है, सभाओं में सुधर्म सभा श्रेष्ठ है वैसे ही ज्ञातपुत्र से श्रेष्ठ कोई ज्ञानी नहीं है । वे आशुप्रज्ञ पृथ्वीतुल्य थे, विशुद्ध थे और अनासक्त थे । उन्होंने संग्रह नहीं किया । उन अभयंकर, वीर और अनन्त चक्षु ने संसार महासागर को तैरकर (मुक्ति पाई) ।

सूत्र - ३७७

वे क्रोध, मान, माया और लोभ–इन चार अध्यात्म दोषों को त्यागकर न पापाचरण करते थे, न करवाते थे।

सूत्र - ३७८

ज्ञातपुत्र ने क्रिया, अक्रिया, वैनायिक और अज्ञानवाद के पक्ष की प्रतीति की । इस तरह सभी वादों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर आजीवन संयम में उपस्थित रहे ।

सूत्र - ३७९

उस उपधान वीर्य ने दु:ख-क्षयार्थ रात्रि भोजन सहित स्त्री संसर्ग का वर्जन किया । इह लोक और परलोक को जानकर सर्ववर्जी ज्ञातपुत्र ने पापों का सर्वथा त्याग किया ।

सूत्र - ३८०

समाहित अर्थ और पद से विशुद्ध अर्हद-भाषित धर्म को सून, उसे श्रद्धा पूर्वक ग्रहण कर मनुष्य मुक्त होंगे, देवाधिपति इन्द्र होंगे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-६ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-७ – कुशीलपरिभाषित

सूत्र – ३८१, ३८२

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, बीज और त्रस प्राणी अण्डज, जरायुज, संस्वेदज और रसज यह जीव समूह है । इसे जीवनिकाय कहते हैं । इन्हें जानो एवं इनकी साता को देखो । इन कायों का घात करने वाला पुनः पुनः विपर्यास प्राप्त करता है ।

सूत्र - ३८३

त्रस और स्थावर जीवों के जातिपथ/विचरणमार्ग में प्रवर्तमान मनुष्य घात करता है । वह अज्ञानी नाना प्रकार के क्रूर कर्म करता हुआ उसी में निमग्न रहता है ।

सूत्र - ३८४

वे प्राणी इस लोक में या परलोक में, तद्‌रूप में या अन्य रूप में, संसार में आगे से आगे परिभ्रमण करते हुए दुष्कृत का बन्धन एवं वेदन करते हैं ।

सूत्र - ३८५

जो श्रमणव्रती माता-पिता का त्याग अग्नि का समारम्भ करता है एवं आत्मसुख के लिए प्राणिघात करता है, वह लोक में कुशीलधर्मी कहा गया है ।

सूत्र - ३८६

प्राणियों का अतिपात अग्नि ज्वालक भी करता है एवं निर्वापक भी । अतः मेघावी पण्डित धर्म का समीक्षण कर अग्नि-समारम्भ न करे ।

सूत्र - ३८७

पृथ्वी भी जीव है और जल भी जीव है । सम्पतिम प्राणी गिरते हैं । संस्वेदज व काष्ठाश्रित भी जीव हैं, अतः अग्नि-समारम्भक इन जीवों का दहन करता है ।

सूत्र - ३८८

हरित जीव आकार धारण करते हैं । वे आहार से उपचित एवं पृथक्-पृथक् हैं । जो आत्म-सुख के लिए इनका छेदन करता है, वह धृष्टप्रज्ञ अनेक जीवों का हिंसक है ।

सूत्र - ३८९

उत्पत्ति, बुद्धि और बीजों का विनाशक असंयत और आत्म-दंडी है । जो आत्म-सुख के लिए बीजों को नष्ट करता है, वह अनार्यधर्मी कहा गया है ।

सूत्र - ३९०

कुछ जीव गर्भ में बोलने, न बोलने की आयु में पंचशिखी कुमारावस्था में मर जाते हैं, तो कुछ युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्था में आयु-क्षय होने पर च्युत हो जाते हैं ।

सूत्र - ३९१

अतः हे जीवों ! मनुष्यत्व-सम्बोधि प्राप्त करो । भय को देखकर अज्ञान को छोड़ो । यह लोक ज्वर से एकान्त दुःखरूप है । (जीव) स्वकर्म से विपर्यास पाता है ।

सूत्र - ३९२

इस संसार में कई मूढ़ आहार में नमकवर्जन से मोक्ष कहते हैं । कुछ शीतल जल-सेवन से और कुछ हवन से मोक्षप्राप्ति कहते हैं ।

सूत्र - ३९३

प्रातः स्नानादि से मोक्ष नहीं है, न ही क्षार-लवण के अनशन से है । वे मात्र मद्य, माँस और लहसून न खाकर अन्यत्र निवास (अमोक्ष) की कल्पना करते हैं ।

सूत्र - ३९४

(वे) सायं और प्रातः जल स्पर्शन कर जल से सिद्धि निरूपित करते हैं । पर यदि जल-स्पर्श से सिद्धि प्राप्त हो जाती तो अनेक जलचर प्राणी सिद्ध हो जाते ।

सूत्र – ३९५, ३९६

मत्स्य, कूर्म, जल सर्प, बतख, उद्‌विलाव और जल-राक्षस जल जीव हैं । जो जल से सिद्धि प्ररूपित करते हैं उन्हें कुशल-पुरुष 'अयुक्त' कहते हैं ।

यदि जल कर्म-मलका हरण करता है तो शुभ का भी हरण करेगा, अतः यह बात ईच्छाकल्पित है । मन्द लोग अन्धे की तरह अनुसरण कर प्राणों का ही नाश करते हैं ।

सूत्र - ३९७

यदि पापकर्मी का पाप शीतल जल हरण कर लेता है तो जल जीवों के वधिक भी मुक्त हो जाते । अतः जलसिद्धिवादी असत्य बोलते हैं ।

सूत्र - ३९८

जो सायं एवं प्रातः अग्नि स्पर्श करते हुए हवन से सिद्धि कहते हैं, पर यदि ऐसे सिद्धि प्राप्त होती तो अग्निस्पर्शी कुकर्मी भी सिद्ध हो जाते ।

सूत्र - ३९९

अपरीक्षित दृष्टि से सिद्धि नहीं है । वे अबुध्यमान मनुष्य घात प्राप्त करेंगे । अतः त्रस और स्थावर प्राणियों के सुख का प्रतिलेख कर बोध प्राप्त करो ।

सूत्र - ४००

विविधकर्मी प्राणी रुदन करते हैं, लुप्त होते हैं और त्रस्त होते हैं । अतः विद्वान, विरत और आत्मगुप्त भिक्षु त्रसजीवों को देखकर संहार से निवृत्त हो जाए ।

सूत्र - ४०१

जो धर्म से प्राप्त आहार का संचय कर भोजन करते हैं, शरीर-संकोच कर स्नान करता है, वस्त्र धोता है अथवा मलता है वह नग्नता से दूर कहा गया है ।

सूत्र - ४०२

धीर पुरुष जल में कर्म जानकर मोक्ष पर्यन्त अचित्त जल से जीवन यापन करे । वह बीज, कंद आदि का अनुपभोगी स्नान एवं स्त्री आदि से विरत रहे ।

सूत्र - ४०३

जो माता-पिता, गृह, पुत्र, पशु एवं धन का त्याग कर के भी स्वादिष्टभोजी कुलों की ओर दौड़ता है, वह श्रामण्य से दूर कहा गया है ।

सूत्र - ४०४

जो स्वादिष्ट भोजी कुलों की ओर दौड़ता है, उदरपूर्ति के लिए अनुगृद्ध होकर धर्म-आख्यान करता है, भोजन के लिए आत्म-प्रशंसा करता है, वह आर्यों का शतांशी है ।

सूत्र - ४०५

जो अभिष्क्रमित होकर भोजन के लिए दीन होता है, गृद्ध होकर दाता की प्रशंसा करता है, वह आहार गृद्ध सुअर-विशेष की तरह शीघ्र ही विनष्ट होता है ।

सूत्र - ४०६

जो इहलौकिक अन्नपान के लिए प्रिय वचन बोलता है, वह पार्श्वस्थ भाव और कुशीलता का सेवन करता है वह वैसे ही निःसार होता है, जैसे धान के छिलके ।

सूत्र - ४०७

(मुनि) अज्ञानपिण्ड की एकणा करे, सहन करे, तप से पूजा का आकांक्षी न बने । शब्दों और रूपों में अनासक्त रहे । सभी कामों से गृद्धि दूर करे ।

सूत्र - ४०८

धीर भिक्षु सभी संसर्गों का त्याग कर, सभी दुःखों को सहन करता हुआ अखिल अगृद्ध अनिकेतचारी अभयंकर और निर्मल चित्त बने ।

सूत्र - ४०९

मुनि (संयम) भार वहन करने के लिए भोजन करे । पाप के विवेक की ईच्छा करे, दुःख से स्पृष्ट होने पर शांत रहे और संग्रामशीर्ष की तरह कामनाओं को दमे ।

सूत्र - ४१०

परीषहों से हन्यमान भिक्षु फलक की तरह शरीर कृश होने पर काल की आकांक्षा करता है । मैं ऐसा कहता हूँ कि वह कर्म-क्षय करने पर वैसे ही प्रपंच में/संसार में गति नहीं करता, जैसे धुरा टूटने पर गाड़ी नहीं चलती । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-७ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-८ – वीर्य

सूत्र - ४११

स्वाख्यात वीर्य दो प्रकार का कहा गया है । वीर का वीरत्व क्या है ? उन्हें वीर क्यों कहा जाता है ?

सूत्र - ४१२

सुव्रतों ने कर्म वीर्य और अकर्मवीर्य प्रतिपादित किया है । इन्हीं दो स्थानों में मर्त्य/प्राणी दिखाई देते हैं ।

सूत्र - ४१३

प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है । बाल या पंडित तो भाव की अपेक्षा से होता है ।

सूत्र - ४१४

कई लोग प्राणियों के अतिपात के लिए शस्त्र-प्रशिक्षण करते हैं । कई लोग प्राणियों एवं भूतों को वश में करनेवाले मंत्रों का अध्ययन करते हैं ।

सूत्र – ४१५, ४१६

मायावी माया करके कामभोग प्राप्त करते हैं । वे स्व-सुखानुगामी हनन, छेदन और कर्तन करते हैं ।
वे असंयती यह कार्य मन, वचन और अन्त में काया से, स्व-पर या द्विविध करते हैं ।

सूत्र - ४१७

वैरी वैर करता है तत्पश्चात् वैर में राग करता है । आरम्भ पाप की ओर ले जाते हैं । अंत में दुःख स्पर्श होता है ।

सूत्र - ४१८

आर्त-रूप दुष्कृतकर्मी सम्पराय प्राप्त करते हैं । राग-द्वेष के आश्रित वे अज्ञानी बहुत पाप करते हैं ।

सूत्र - ४१९

यह अज्ञानियों का सकर्मवीर्य प्रवेदित किया । अब पंडितों का अकर्मवीर्य मुझसे सूनो ।

सूत्र - ४२०

बन्धन मुक्त एवं बन्धन-छिन्न द्रव्य हैं । सर्वतः पाप कर्म से विहीन भिक्षु अन्ततः शल्य को काट देता है ।

सूत्र - ४२१

नैर्यात्रिक/मोक्षमार्गी स्वाख्यात को सूनकर चिन्तन करे । दुःखपूर्ण आवासों को तो ज्यों-ज्यों भोगा जाएगा, त्यों-त्यों अशुभत्व होगा ।

सूत्र - ४२२

निस्सन्देह स्थानी (मोक्ष-मार्गी) अपने विविध स्थानों का त्याग करेंगे । ज्ञातिजनों एवं मित्रों के साथ यह वास अनित्य है ।

सूत्र - ४२३

ऐसा चिन्तन कर मेघावी स्वयं को गृद्धता से उद्धरित करे । सर्वधर्मों में निर्मल आर्य धर्म को प्राप्त करे ।

सूत्र - ४२४

धर्म-सार को अपनी सन्मति से जानकर अथवा सूनकर समुपस्थित/प्रयत्नशील अनगार पाप का प्रत्याख्यानी होता है ।

सूत्र - ४२५

अपने आयुक्षेम का जो उपक्रम है, उसे जाने, तत्पश्चात् पण्डित शीघ्र शिक्षा ग्रहण करे ।

सूत्र - ४२६

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपनी देह में समाहित कर लेता है वैसे ही आत्मा को पापों से अध्यात्म में ले जाना चाहिए ।

सूत्र - ४२७

(मुनि) हाथ, पैर, मन, सर्व-इन्द्रियों, पाप परिणाम एवं भाषा दोष को संयत करे ।

सूत्र - ४२८

ज्ञानी उस दोष को जानकर किञ्चित् भी मान और माया न करे । वह स्नेह-उपशान्त होकर विचरण करे ।

सूत्र - ४२९

प्राणों का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले एवं माया-मृषावाद न करे । यही वृषीमत (जितेन्द्रिय) का धर्म है।

सूत्र - ४३०

वचन का अतिक्रमण न करे, मन से भी ईच्छा न करे । सर्वतः संवृत और दान्त होकर आदान को तत्परता से संयत करे ।

सूत्र - ४३१

आत्म गुप्त, जितेन्द्रिय कृत, कारित और किये जाने वाले सभी पापों का अनुमोदन नहीं करते हैं ।

सूत्र - ४३२

जो अबुद्ध महानुभाव वीर एवं असम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम अशुद्ध एवं सर्वतः कर्मफल युक्त होता है।

सूत्र - ४३३

जो बुद्ध, महाभाग, वीर और सम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम शुद्ध और सर्वतः कर्मफल रहित होता है ।

सूत्र - ४३४

जो महाकुल से निष्क्रान्त हैं, वे दूसरों से अपमानित होने पर आत्म प्रशंसा नहीं करते हैं, उनका तप शुद्ध होता है ।

सूत्र - ४३५

सुव्रत अल्पपिण्डी, अल्पजलग्राही तथा अल्पभाषी बने, जिससे वह सदा क्षांत, अभिनिर्वृत्त, दान्त एवं वीतगृद्ध होता है ।

सूत्र - ४३६

ध्यान-योग को समाहृत कर सर्वशः काया का व्युत्सर्ग करे । तितिक्षा को उत्कृष्ट जानकर मोक्ष पर्यन्त परिव्रजन करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-८ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-९ – धर्म

सूत्र - ४३७

मतिमान् माहन द्वारा कौन-सा धर्म आख्यात है ? तीर्थंकरों के ऋजु और यथार्थ धर्म को मुझसे सूनो ।

सूत्र - ४३८

माहण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वर्णशंकर, एषिक/शिकारी, वैशिक, शूद्र तथा अन्य लोग भी आरम्भाश्रित हैं ।

सूत्र - ४३९

जो परिग्रह में मूर्च्छित हैं, उनका वैर बढ़ता है, उसके काम आरम्भ-संभृत हैं । वे दुःख विमोचक नहीं हैं ।

सूत्र - ४४०

विषय-अभिलाषी ज्ञातिजन मरणोपरान्त किये जाने वाले अनुष्ठान के पश्चात् धन का हरण कर लेते हैं । कर्मी कर्म से कृत्य करता है ।

सूत्र - ४४१

जब मैं स्वकर्मों से लिप्तमान हूँ तब माता-पिता, पुत्र-वधू, भाई, पत्नी और औरस पुत्र मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं ।

सूत्र - ४४२

परमार्थानुगामी भिक्षु इस अर्थ को समझकर निर्मम और निरहंकार होकर निजोक्त धर्म का आचरण करे ।

सूत्र - ४४३

वित्त, पुत्र, ज्ञातिजन और परिग्रह का त्याग कर, अन्त में श्रोत को छोड़ कर भिक्षु निरपेक्ष विचरण करे।

सूत्र - ४४४

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष और सबीजक, अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेज और उद्भिज्ज (ये जीव) हैं ।

सूत्र - ४४५

हे विज्ञ ! षट्कायिक जीवों को जानो । मन, काय एवं वाक्य से आरम्भी एवं परिग्रही मत बनो ।

सूत्र - ४४६

हे विज्ञ ! मृषावाद, बहिद्ध (बाह्य वस्तु) एवं अयाचित अवग्रह को लोक में शस्त्रादान/शस्त्र-प्रयोग समझो ।

सूत्र - ४४७

हे विज्ञ ! माया, लोभ, क्रोध और मान को लोक में धूर्त-क्रिया समझो ।

सूत्र - ४४८

हे विज्ञ ! प्रक्षालन, रंगना, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म, शिरोवेध को समझो और उसको त्यागो ।

सूत्र - ४४९

हे विज्ञ ! गंध, माल्य, स्नान, दन्तप्रक्षालन, परिग्रह और स्त्रीकर्म को समझो ।

सूत्र - ४५०

हे विज्ञ ! ओद्देशिक, क्रीतकृत, प्रामित्य (उधार लिये गए) आहृत पूतिनिर्मित और अनैषणीय आहार को समझो/त्यागो ।

सूत्र - ४५१

हे विज्ञ ! आशूनि (शक्ति-वर्धक) अक्षिराग, रसासक्ति, उत्क्षालन और कल्क (उबटन) को समझो/त्यागो ।

सूत्र - ४५२

हे विज्ञ! संप्रसारी(असंयत भाषी), कृतक्रिया प्रशंसक, ज्योतिष्क और सागरिक पिण्ड को समझो /त्यागो

सूत्र - ४५३

हे विज्ञ! अष्टापद(द्यूत आदि) मत सीखो, वेध आदि मत बनाओ । हस्तकर्म और विवाद को समझो/ त्यागो

सूत्र - ४५४

हे विज्ञ ! उपानह (जूता) छत्र, नालिका वालवीजन (पंखा), परक्रिया एवं अन्योन्य क्रिया को समझो / त्यागो ।

सूत्र - ४५५

मुनि हरित स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण (मलमूत्र-विसर्जन) न करे तथा वनस्पति को इधर-उधर कर अचित्त जल से भी कदापि आचमन न करे ।

सूत्र - ४५६

विज्ञ गृहस्थ के पात्र में कभी भी आहार-पानी का सेवन न करे । अचेल (मुनि) परवस्त्र को भी समझे / त्यागे ।

सूत्र - ४५७

हे विज्ञ ! आसन्दी (कुर्सी), पलंग, गृहान्तर की शय्या, संप्रच्छन या स्मरण को समझो/त्यागो ।

सूत्र - ४५८

यश, कीर्ति, श्लोक (प्रशंसा), वंदनपूजन और सम्पूर्ण लोक के जितने भी काम हैं, उन्हें समझो/त्यागो ।

सूत्र - ४५९

हे प्रज्ञ ! यदि भिक्षु (गृहस्थ से) कार्य निष्पन्न कराए तो अनुप्रदाता के अन्नपान को समझे ।

सूत्र - ४६०

अनन्तज्ञानदर्शी, निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने ऐसा श्रुतधर्म का उपदेश दिया ।

सूत्र - ४६१

मुनि बोलता हुआ भी मौनी रहे, मर्मवेधी वचन न बोले, मायावी स्थान का वर्जन करे, अनुवीक्षण कर बोले।

सूत्र - ४६२

ये तथ्य भाषाएं हैं जिन्हें बोलकर मनुष्य अनुतप्त होता है । जो क्षण बोलने योग्य नहीं है उस क्षण में नहीं बोलना चाहिए ।

सूत्र - ४६३

मुनि होलावाद सखिवाद एवं गौत्रवाद न बोले । तू तू ऐसा अमनोज्ञ शब्द सर्वथा न कहे ।

सूत्र - ४६४

साधु सदैव अकुशील (सुशील) रहे और संसर्ग न करे । यह विज्ञ अनुकूल उपसर्गों को भी समझे ।

सूत्र - ४६५

मुनि किसी अन्तराय/कारण के बिना गृहस्थ के घर में न बैठे । कामक्रीड़ा एवं कुमारक्रीड़ा न करे एवं अमर्यादित न हँसे ।

सूत्र - ४६६

मनोहर पदार्थों के प्रति अनुत्सुक रहे, यतनापूर्वक परिव्रजन करे । चर्या में अप्रमत्त रहे (उपसर्गों) से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे ।

सूत्र - ४६७

हन्यमान अवस्था में भी क्रोध न करे, कुछ कहे जाने पर उत्तेजित न हो, प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल न करे ।

सूत्र - ४६८

प्राप्त काम भोगों की अभिलाषा न करे, यह विवेक कहा गया है । बुद्धों के पास सदा आचरण की शिक्षा प्राप्त करें ।

सूत्र - ४६९

जो वीर, आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी, धृतिमान् और जितेन्द्रिय है, ऐसे सुप्रज्ञ और सुतपस्वी आचार्य की सुश्रुषा करे ।

सूत्र - ४७०

गृह की दीप (प्रकाश) न देखने वाले मनुष्य भी (प्रव्रज्या में) पुरुषादानीय हो जाते हैं । वे बन्धन-मुक्त वीर जीने की आकांक्षा नहीं करते हैं ।

सूत्र - ४७१

(मुनि) शब्द और स्पर्श से अनासक्त तथा आरम्भ में अनिश्रित रहे । जो पूर्व में कहा गया है, वह सर्व समयातीत है ।

सूत्र - ४७२

पंडित मुनि अतिमान, माया और सभी गौरवों को जानकर निर्वाण की खोज करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-९ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-१० - समाधि

सूत्र - ४७३

मतिमान् ने अनुचिन्तन कर जो ऋजु समाधि-धर्म प्रतिपादित किया है, उसे सूनो । समाधि-प्राप्त अप्रतिज्ञ और अनिदानभूत भिक्षु सम्यक् परिव्रजन करे ।

सूत्र - ४७४

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशाओं में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन्हें हस्त और पाद से संयमित कर अन्य द्वारा अदत्त पदार्थ ग्रहण न करे ।

सूत्र - ४७५

जो स्वाख्यातधर्मी एवं विचिकित्सातीर्ण है वह प्राणियों पर आत्मवत् व्यवहार कर लाढ़ देश में विचरण करे। जीवन के लिए आय न करे और सुतपस्वी भिक्षु संचय न करे ।

सूत्र - ४७६

मुनि प्राणियों पर सर्व-इन्द्रियों से संयत तथा सर्वथा विप्रमुक्त होकर विचरण करे । पृथक्-पृथक् रूप से विषण्ण, दु:ख से आर्त और परितप्त प्राणियों को देखे ।

सूत्र - ४७७

अज्ञानी जीवों को दु:खी करता हुआ पाप कर्मों में आवर्तन करता है । वह स्वयं अतिपातकर पापकर्म करता है व नियोजित होकर भी कर्म करता है ।

सूत्र - ४७८

आदीनवृत्ति वाला भी पाप करता है, यह मानकर एकान्त समाधि का प्ररूपण किया । समाधि और विवेक रत पुरुष बुद्ध, प्राणातिपात-विरत एवं स्थितात्मा है ।

सूत्र - ४७९

सर्व जगत् का समतानुप्रेक्षी किसी का भी प्रिय-अप्रिय न करे । दीन उठकर पुनः विषण्णा होता है । प्रशंसा कामी पूजा चाहता है ।

सूत्र - ४८०

जो निष्प्रयोजन आधाकर्म आहार की ईच्छा से चर्या करता है, वह विषण्णता की एषणा करता है । स्त्री-आसक्त अज्ञानी परिग्रह का ही प्रवर्तन करता है ।

सूत्र - ४८१

वैरानुगृद्ध पुरुष कर्म-निचय करता है । यहाँ से च्युत होकर वह दु:ख रूप दूर्ग प्राप्त करता है । अत: मेघावी धर्म की समीक्षा कर सर्वत: विप्रमुक्त हो विचरण करे ।

सूत्र - ४८२

लोक में जीवितार्थी आय न करे, अनासक्त होकर परिव्रजन करे । निशम्यभाषी और विनीतगृद्ध हिंसान्वित कथा न करे ।

सूत्र - ४८३

आधाकर्म की कामना न करे और न कामना करने वाले का संस्तव करे । अनुप्रेक्षक अनुप्रेक्षापूर्वक स्थूल शरीर के स्रोत को छोड़कर उसे कृश करे ।

सूत्र - ४८४

एकत्व की अभ्यर्थना करे, यही मोक्ष है, यह मिथ्या नहीं है । यह मोक्ष ही सत्य एवं श्रेष्ठ है, इसे देखो । जो अक्रोधी, सत्यरत एवं तपस्वी है (वह मोक्ष पाता है) ।

सूत्र - ४८५

स्त्री-मैथुन से विरत, अपरिग्रही, ऊंच-नीच विषयों में मध्यस्थ भिक्षु समाधि प्राप्त है ।

सूत्र - ४८६

भिक्षु अरति और रति को अभिभूत कर तृणादि स्पर्श तथा शीत स्पर्श, उष्ण तथा दंश को सहन करे । सुरभि एवं दुरभि में तितिक्षा रखे ।

सूत्र - ४८७

गुप्त-वाची एवं समाधि-प्राप्त (भिक्षु) विशुद्ध लेश्याओं को ग्रहण कर परिव्रजन करे, स्वयं गृहच्छादन न करे और दूसरों से न करवाए । प्रजा के साथ एक स्थान पर न रहे ।

सूत्र - ४८८

जगत में जितने भी अक्रियात्मवादी हैं, वे अन्य के पूछने पर धुत का प्रतिपादन करते हैं, पर वे आरम्भ में आसक्त और लोक में ग्रथित होकर मोक्ष के हेतु धर्म को नहीं जानते हैं ।

सूत्र - ४८९

उन मनुष्यों के विविध छंद (अभिप्राय) होते हैं । क्रिया और अक्रिया पृथग्वाद है । जैसे नवजात शिशु का शरीर बढ़ता है वैसे ही असंयत का वैर बढ़ता है ।

सूत्र - ४९०

आयुक्षय से अनभिज्ञ, ममत्वशील, साहसकारी मंद, आर्त और मूढ़ स्वयं को अजर-अमर मानकर रात-दिन संतप्त होता है ।

सूत्र - ४९१

वित्त, पशु, बान्धव और अन्य जो भी प्रियमित्र हैं उन्हें छोड़कर वह विलाप करता है और मोहित होता है, अन्य लोग उसके धन का हरण कर लेते हैं ।

सूत्र - ४९२

जैसे विचरणशील क्षुद्र मृग सिंह से परिशंकित हो दूर विचरण करते हैं इसी प्रकार मेघावी धर्म की समीक्षा कर दूर से ही पाप का परिवर्जन करे ।

सूत्र - ४९३

संबुध्यमान, मतिमान, नर हिंसा प्रसूत दुःख को वैरानुबन्धी एवं महाभयकारी मानकर पाप से आत्म-निवर्तन करे ।

सूत्र - ४९४

आत्मगामी मुनि असत्य न बोले । मृषावाद न स्वयं करे न अन्य से करवाए और न करने वाले का समर्थन करे । यही निर्वाण और सम्पूर्ण समाधि है ।

सूत्र - ४९५

अमूर्च्छित और अध्युपपन्न साधक प्राप्त आहार को दूषित न करे । धृतिमान, विमुक्त भिक्षु पूजनार्थी एवं प्रशंसा कामी न होकर परिव्रजन करे ।

सूत्र - ४९६

गृह से अभिनिष्क्रमण कर निरवकांक्षी बने । शरीर का व्युत्सर्ग कर रहितनिदान बने, जीवन मरण का अनिभिकांक्षी एवं वलय से विमुक्त भिक्षु संयम का आचरण करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१० का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-११ – मार्ग

सूत्र - ४९७

मतिमान् माहन द्वारा कौन सा मार्ग प्रवेदित है ? जिस ऋजु मार्ग को पाकर दुस्तर प्रवाह को पार किया जा सकता है ।

सूत्र - ४९८

हे भिक्षु! शुद्ध, सर्व दुःख विमोक्षी एवं अनुत्तर उस मार्ग को जैसे आप जानते हैं, हे महामुने! वैसे ही कहें ।

सूत्र - ४९९

यदि कोई देव अथवा मनुष्य हमसे पूछे तो उन्हें कौन सा मार्ग बतलाएं, यह हमें बताइए ।

सूत्र - ५००

यदि कुछ देव या मनुष्य तुमसे पूछे तब उन्हें जो संक्षिप्त मार्ग कहा जाए वह मुझसे सूनो ।

सूत्र - ५०१

काश्यप द्वारा प्रवेदित मार्ग बड़ा कठिन है, जिसे प्राप्त कर अनेक लोग समुद्र व्यापारी (की तरह)–

सूत्र - ५०२

(संसार-सागर को) तर गए हैं, तर रहे हैं और भविष्य में तरेंगे । उसे सूनकर जो कहूँगा उसे हे प्राणियों ! मुझसे सूनो ।

सूत्र - ५०३

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बीज, तृण और वृक्ष–ये सभी जीव पृथक्-पृथक् सत्व (अस्तित्व) वाले हैं ।

सूत्र - ५०४

इनके अतिरिक्त त्रस प्राणी होते हैं । इस प्रकार षट्काय बताये गए हैं । जीव-काय इतने ही हैं । इनके अतिरिक्त कोई जीवकाय नहीं हैं ।

सूत्र - ५०५

मतिमान् सभी युक्तियोंसे जीवों का प्रतिलेखन करे। सभी प्राणियोंको दुःख अप्रिय है अतः सभी अहिंस्य हैं

सूत्र - ५०६

यही ज्ञानियों का सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता है । समता अहिंसा है इतना ही उसे जानना चाहिए ।

सूत्र - ५०७

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, सर्वत्र हिंसा से विरत रहे (क्योंकि) शान्ति को निर्वाण कहा गया है ।

सूत्र - ५०८

प्रभु/ज्ञान मनीषी दोषों का निराकरण कर किसी के साथ मन, वचन, काया से आजीवन वैर-विरोध न करे।

सूत्र - ५०९

संवृत्त महाप्राज्ञ और धीर दत्तैषणा की चर्या करे । अनैषणीय का त्याग करे एवं नित्य एषणा-समिति का पालन करे ।

सूत्र - ५१०

जीवों का समारम्भ कर साधु के उद्देश्य से निर्मित अन्नपान सुसंयती ग्रहण न करे ।

सूत्र - ५११

पूतिकर्म का सेवन न करे यही वृषीमत धर्म है । जहाँ किञ्चित् भी आशंका हो वह सर्वथा अकल्पनीय है।

सूत्र - ५१२

आत्मगुप्त, जितेन्द्रिय हिंसा/हिंसक का अनुमोदन न करे । ग्राम या नगरों में श्रद्धालुओं के स्थान होते हैं ।

सूत्र - ५१३

कोई पूछे, अमुक कार्य में पुण्य है या नहीं । तो पुण्य है–ऐसा भी न कहे अथवा पुण्य नहीं है ऐसा भी न कहे । यह कहना महाभयकारक है ।

सूत्र - ५१४

दानार्थ जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं उनके संरक्षणार्थ पुण्य है–यह भी न कहे ।

सूत्र - ५१५

जिनको देने के लिए पूर्वोक्त अन्नपान बताया जाता है उसमें लाभान्तराय है अतः पुण्य नहीं है–यह न कहे ।

सूत्र - ५१६

जो इस दान की प्रशंसा करते हैं, वे प्राणीवध की ईच्छा करते हैं । जो दान का प्रतिषेध करते हैं, वे उनकी वृत्ति का छेदन करते हैं ।

सूत्र - ५१७

दान में पुण्य है या नहीं है–जो ये दोनों ही नहीं कहते हैं वे कर्माश्रव का निरोध कर निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

सूत्र - ५१८

जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा श्रेष्ठ है वैसे ही बुद्ध/तीर्थंकर का निर्वाण श्रेष्ठ है । अतः सदा दान्त एवं यत्नशील मुनि निर्वाण का संधान करे ।

सूत्र - ५१९

(संसार-प्रवाह में) प्रवाहीत, स्वकर्मों से छिन्न प्राणीयों के लिए प्रभु ने साधुक/कल्याणकारी द्वीप का प्रतिपादन किया है । इसे 'प्रतिष्ठा' कहा जाता है ।

सूत्र - ५२०

जो आत्मगुप्त, दान्त, छिन्न स्रोत एवं निराश्रव हैं, वह शुद्ध प्रतिपूर्ण अनुपम धर्म का आख्यान करता है ।

सूत्र - ५२१

उससे अनभिज्ञ अबुद्ध स्वयं को बुद्ध कहते हैं । हम बुद्ध हैं–ऐसा मानने वाले समाधि से दूर हैं ।

सूत्र - ५२२

वे बीज, सचित्त जल एवं उद्देश्य से निर्मित आहार ग्रहण कर ध्यान ध्याते हैं । वे अक्षेत्रज्ञ और असमाहित हैं।

सूत्र - ५२३

जैसे ढंक, कंक, कुरर, मद्गु और शिखी मछली की एषणा का ध्यान करते हैं, वैसे ही वे कलुष और अधम ध्यान करते हैं ।

सूत्र - ५२४

इसी तरह कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण विषय एषणा का कंक की तरह ध्यान करते हैं । अतः वे कलुष और अधम हैं ।

सूत्र - ५२५

उन्मार्गगत कुछ दुर्बुद्धि शुद्ध मार्ग की विराधना कर दुःख तथा मरण की एषणा करते हैं ।

सूत्र - ५२६

जैसे जन्मान्ध व्यक्ति आस्राविणी नाव पर आरूढ़ होकर नदी पार करने की ईच्छा करता है, पर मझधार में ही विषाद प्राप्त करता है ।

सूत्र - ५२७

वैसे ही कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण सम्पूर्ण स्रोत संसार में पड़कर महाभय प्राप्त करते हैं ।

सूत्र - ५२८

काश्यप द्वारा प्रवेदित धर्म को अङ्गीकार कर मुनि महाघोर स्रोत तर जाए । आत्मभाव से परिव्रजन करे ।

सूत्र - ५२९

वह ग्राम्यधर्मों से विरत होकर जगत में जितने भी प्राणी हैं उन्हें आत्मतुल्य जानकर पराक्रम करता हुआ परिव्रजन करे ।

सूत्र - ५३०

पण्डित मुनि अतिमान और माया को जानकर उनका निराकरण कर निर्वाण का संधान करे ।

सूत्र - ५३१

उपधान वीर्य भिक्षु साधु-धर्म का संधान करे और पाप धर्म का निराकरण करे । क्रोध और मान की प्रार्थना न करे ।

सूत्र - ५३२

जो अतिक्रान्त बुद्ध और जो अनागत बुद्ध हैं, उनका स्थान शान्ति है जैसे भूतों/प्राणियों के लिए पृथ्वी होती है ।

सूत्र - ५३३

व्रत सम्पन्न मुनि ऊंचे-नीचे स्पर्श से स्पर्शित होता है । पर वह उनसे वैसे ही विचलित न हो, जैसे वायु से महापर्वत विचलित नहीं होता ।

सूत्र - ५३४

संवृत, महाप्राज्ञ, धीर साधु दूसरों के दिए हुए आहार आदि की एषणा करे । निर्वृत काल की आकांक्षा करे। यही केवली-मत है । –ऐसा मै कहता हूँ ।

अध्ययन-११ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-१२ – समवसरण

सूत्र - ५३५

क्रिया, अक्रिया तीसरा विनय और चौथा अज्ञान–ये चार समवसरण हैं, जिसे प्रावादुक/प्रवक्ता पृथक्-पृथक् प्रकार से कहते हैं ।

सूत्र - ५३६

अज्ञानवादी कुशल होते हुए भी प्रशंसनीय नहीं है । वे विचिकित्सा से तीर्ण नहीं है । वे अकोविद हैं, अतः अकोविदों में बिना विमर्श किये मिथ्या भाषण करते हैं ।

सूत्र – ५३७, ५३८

सत्य का असत्य चिन्तन करनेवाले, असाधु को साधु कहनेवाले अनेक विनयवादी हैं, जो पूछने पर विनय को प्रमाण बतलाते हैं । ऐसा वे (विनयवादी) अज्ञानवश कहते हैं कि हमें यही अर्थ अवभाषित होता है । अक्रियावादी भविष्य और क्रिया का कथन नहीं करते ।

सूत्र - ५३९

वह सम्मिश्रभावी अपनी वाणी से गृहीत है । जो अनुनवादी है वह मौनव्रती होता है । वह कहता है यह द्विपक्ष है, यह एक पक्ष है । कर्म को षडायतन मानता है ।

सूत्र - ५४०

वे अनभिज्ञ अक्रियवादी विविध रूपों का आख्यान करते हैं, जिसे स्वीकार कर अनेक मनुष्य अपार संसार में भ्रमण करते हैं ।

सूत्र - ५४१

एक मत यह है कि सूर्य न उदित होता है और न अस्त । चन्द्रमा न बढ़ता हे और न घटता है । नदियाँ प्रवाहित नहीं है । हवा चलती नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण लोक अर्थ शून्य एवं नियत है ।

सूत्र - ५४२

जैसे नेत्रहीन अन्धा प्रकाश होने पर भी रूपों को नहीं देख पाता है वैसे ही निरुद्धप्रज्ञ अक्रियावादी क्रिया को भी नहीं देख पाते हैं ।

सूत्र - ५४३

इस लोक में अनेक पुरुष अन्तरिक्ष, स्वप्निक, लाक्षणिक, नैमितिक, दैहीक, औत्पातिक आदि अष्टांग शास्त्रों का अध्ययन कर अनागत को जान लेते हैं ।

सूत्र - ५४४

किन्हीं को निमित्त यथातथ्य ज्ञात है । किन्हीं का ज्ञान तथ्य के विपरीत है । जो विद्याभाव से अनभिज्ञ हैं, वे विद्या से मुक्त होने का आदेश देते हैं ।

सूत्र - ५४५

तीर्थंकर लोक की समीक्षा कर श्रमणों एवं माहणों को यथातथ्य बतलाते हैं । दुःख स्वयंकृत है अन्यकृत नहीं । प्रमोक्ष विद्या/ज्ञान और चरण/चारित्र से है ।

सूत्र - ५४६

इस संसार में वे ही लोकनायक हैं जो दृष्टा है तथा जो प्रजा के लिए हीतकर मार्ग का अनुशासन करते हैं । हे मानव ! जिसमें प्रजा आसक्त है यथार्थतः वही शाश्वत लोक कहा गया है ।

सूत्र - ५४७

जो राक्षस, यमलौकीक, असुर, गंधर्वकायिक आकाशगामी एवं पृथ्वीआश्रित प्राणी है । वे विपर्यास प्राप्त करते हैं ।

सूत्र - ५४८

जिसे अपारगसलिल-प्रवाह कहा गया है, उस गहन संसार को दुर्मोक्ष जानो । जिसमें विषय और अंगनाओं से परुष विषण्ण है और लोक में अनुसंचरण करते हैं ।

सूत्र - ५४९

अज्ञानी कर्म से कर्म-क्षय नहीं कर सकते । धीर अकर्म से कर्म का क्षय करते हैं । मेघावी पुरुष लोभ और मद से अतीत हैं । सन्तोषी पाप नहीं करते हैं ।

सूत्र - ५५०

वे (सर्वज्ञ) लोक के अतीत, वर्तमान और अनागत के यथार्थ-ज्ञाता हैं । वे अनन्य संचालित/आत्मनियन्ता, बुद्ध एवं कृतान्त हैं अतः दूसरों के नेता हैं ।

सूत्र - ५५१

हिंसा से उद्विग्न होने के कारण जीव जुगुप्सित होते हैं । न वे हिंसा करते हैं न करवाते हैं । वे धीर सदैव संयम की ओर झुके रहते हैं । कुछ लोग मात्र वाग्वीर होते हैं ।

सूत्र - ५५२

जो लोक में बाल-वृद्ध सभी प्राणियों को आत्मवत देखता है, एवं इस महान लोक की अपेक्षा करता है वह बुद्ध अप्रमत्त पुरुषों में परिव्रजन करे ।

सूत्र - ५५३

जो स्वतः या परतः जानकर स्वहित या परहित में समर्थ होता है, जो धर्म का अनुवेक्षण कर के प्रादुर्भाव करता है, उस ज्योतिर्भूत की सन्निधि में सदा रहना चाहिए ।

सूत्र - ५५४

जो आत्मा, लोक, आगति, अनागति, शाश्वत, अशाश्वत, जन्म-मरण, च्यवन और उपपात को जानता है ।

सूत्र - ५५५

जो प्राणियों के अंधो विवर्तन, आस्रव, संवर, दुःख और निर्जरा को जानता है, वही क्रिया-वाद का प्ररूपण कर सकता है ।

सूत्र - ५५६

जो शब्दों, रूपों, रसों और गंधों में राग-द्वेष नहीं करता, जीवन और मरण की अभिकांक्षा नहीं करता, इन्द्रियों का संवर करता है वह इन्द्रियजयी परावर्तन से विमुक्त है । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१२ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-१३ – यथातथ्य

सूत्र - ५५७

नानाविध उत्पन्न पुरुष के लिए मैं यथार्थ का निरूपण करूँगा । मैं सत्-असत्, धर्म-शील, शांति और अशांति को प्रगट करूँगा ।

सूत्र - ५५८

दिन-रात समुत्थित-तथागतों/तीर्थंकरों से धर्म-प्राप्त कर आख्यात् समाधि का सेवन न करनेवाले असाधु अपने शास्ता को कठोर शब्द कहते हैं ।

सूत्र - ५५९

जो विशोधिका कहते हुए आत्मबुद्धि से विपरीत अर्थ प्ररूपित करता है । जो ज्ञान में शंकित होकर मिथ्या बोलता है । वह अनेक गुणों का अस्थानिक है ।

सूत्र - ५६०

जो पूछने पर (आचार्य का) नाम छिपाते हैं वे आदानीय अर्थ का वंचन करते हैं । वे असाधु होते हुए भी स्वयं को साधु मानते हैं । वे मायावी अनन्तघात पाते हैं ।

सूत्र - ५६१

जो क्रोधी है, वह अशिष्टभाषी है, जो अनुपशान्त पापकर्मी उपशान्त की उदीरणा करता है वह दण्डपथ को ग्रहण कर फँस जाता है ।

सूत्र - ५६२

जो कलहकारी और ज्ञातभाषी है वह कलहरित, समभावी, अवपातकारी, लज्जालु, एकान्तदृष्टि और छद्म से मुक्त नहीं है ।

सूत्र - ५६३

जो पुरुष जात प्रिय और परिमित बोलता है । वह जात्यान्वित और सरल परिणामी आचार्य द्वारा बहुशः अनुशासित होन पर भी समभावी और कलह से दूर रहता है ।

सूत्र - ५६४

जो बिना परीक्षा किये स्वयं को संयमी और ज्ञानी मानकर आत्मोत्कर्ष दिखाता है एवं मैं श्रेष्ठ तपस्वी हूँ ऐसा मानकर दूसरे लोगों को प्रतिबिम्ब की तरह मानता है ।

सूत्र - ५६५

वह एकान्त मोह वश परिभ्रमण करता है । मौनपद/मुनिपदमें गोत्र नहीं होता है । जो सम्मानार्थ उत्कर्ष दिखाता है, वह ज्ञानहीन अबुद्ध है ।

सूत्र - ५६६

जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जातीय है व उग्रपुत्र लिच्छवी है, पर जो प्रव्रजित एवं परदत्त भोजी होकर भी गोत्र-मद करता है । वह मानबद्ध है ।

सूत्र - ५६७

जाति और कुल उसके रक्षक नहीं है । केवल सुचीर्ण विद्याचरण ही उसका रक्षक है । जो अभिनिष्क्रमण कर के भी गृहस्थ-कर्म का सेवन करता है वह कर्म विमोचन में असमर्थ होता है ।

सूत्र - ५६८

अकिंचन और रूक्ष जीवी भिक्षु यदि प्रशंसाकामी है, तो वह अहंकारी है । ऐसा अबुद्ध आजीवक पुनः पुनः विपर्यास प्राप्त करता है ।

सूत्र - ५६९

जो सुसाधुवादी, भाषावान्, प्रतिभावान्, विशारद, प्रखर-प्राज्ञ और श्रुतभावितात्मा है वह दूसरों को अपनी प्रज्ञा से पराभूत कर देता है ।

सूत्र - ५७०

पर ऐसा व्यक्ति समाधि प्राप्त नहीं है । जो भिक्षु अपनी प्रज्ञा का उत्कर्ष दिखलाता है अथवा लाभ के मद से अवलिप्त है वह बालप्रज्ञ दूसरों की निन्दा करता है ।

सूत्र - ५७१

वह भिक्षु पंडित और महात्मा है जो प्रज्ञा-मद, तपो-मद, गौत्र-मद और चतुर्थ आजीविका-मद मन से नीकाल देता है ।

सूत्र - ५७२

सुधीरधर्मी धीर इन मदों को छोड़कर पुनः सेवन नहीं करते हैं । सभी गोत्रों से दूर वे महर्षि उच्च और अगोत्र गति की ओर व्रजन करते हैं ।

सूत्र - ५७३

जो भिक्षु मृतार्च तथा दष्टधर्मा है । वह ग्राम व नगर में प्रवेश कर एषणा और अनैषणा को जाने और अन्नपान के प्रति अनासक्त रहे ।

सूत्र - ५७४

भिक्षु अरति और रति का त्याग करके संघवासी अथवा एकचारी बने । जो बात मौन/मुनित्व से सर्वथा अविरुद्ध हो उसीका निरूपण करे । गति-आगति एकाकी जीव की होती है ।

सूत्र - ५७५

स्वयं जानकर अथवा सूनकर प्रजा का हीतकर धर्म का भाषण करे । जो सनिदान प्रयोग निन्द्य है, उनका सुधीरधर्मी सेवन न करे ।

सूत्र - ५७६

किसी के भाव को तर्क से न जानने वाला अश्रद्धालु क्षुद्रता को प्राप्त करता है । अतः साधक अनुमान से दूसरों के अभिप्राय को जानकर आयु का मरणातिचार और व्याघात करे ।

सूत्र - ५७७

धीर कर्म और छन्द का विवेचन कर उसके प्रति आत्म-भाव का सर्वथा विनयन करे । भयावह त्रस-स्थावर रूपों से विद्या-ग्रहण कर पुरुष नष्ट होते हैं ।

सूत्र - ५७८

निर्मल तथा अकषायी भिक्षु न पूजा व प्रशंसा की कामना करे और न ही किसी का प्रिय-अप्रिय करे । वह सब अनर्थों को छोड़ दे ।

सूत्र - ५७९

यथातथ्य का संप्रेक्षक सभी प्राणियों की हिंसा का परित्याग करे, जीवनमरण का अनाकांक्षी बने और वलय से मुक्त होकर परिव्रजन करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१३ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-१४ – ग्रन्थ

सूत्र - ५८०

ग्रन्थ को छोड़कर एवं शिक्षित होते हुए प्रव्रजित होकर ब्रह्मचर्य-वास करे, अवपातकारी विनय का प्रशिक्षण करे । जो निष्णात है वह प्रमाद न करे ।

सूत्र - ५८१

जैसे पंख रहित पक्षी-शावक भी अपने आवास/घोंसले से उड़ने का प्रयास करता है, पर उड़ नहीं पाता है एवं उस पंखहीन तरुण का कौए आदि हरण कर लेते हैं ।

सूत्र - ५८२

वैसे ही अपुष्टधर्मी शैक्ष चारित्र को निस्सार मानकर नीकलना चाहता है । उसे अनेक पाप धर्मी वैसे ही हर लेते हैं जैसे पंखहीन पक्षी-शावक को कौए आदि ।

सूत्र - ५८३

गुरुकुल में न रहने वाला संसार का अन्त नहीं कर सकता, यह जानकर मनुज गुरुकुल-वास एवं समाधि की ईच्छा करे । गुरु वित्त पर अनुशासन करते हैं, अतः आशुप्रज्ञ गुरुकुल को न छोड़े ।

सूत्र - ५८४

स्थान, शयन, आसन और पराक्रम में जो सुसाधुयुक्त हैं, वह समितियों एवं गुप्तियों में आत्मप्रज्ञ होता है । वह अच्छी रीति से (उपदेश) दे ।

सूत्र - ५८५

अनाश्रवी/मुनि कठोर शब्दों को सूनकर संयम में परिव्रजन करे । भिक्षु निद्रा एवं प्रमाद न करे । वह किसी तरह विचिकित्सा से पार हो जाए ।

सूत्र - ५८६

बाल या वृद्ध रात्निक अथवा समव्रती द्वारा अनुशासित होने पर जो सम्यक् स्थिरता में प्रवेश नहीं करता है, वह नीयमान होने पर भी संसार को पार नहीं कर पाता ।

सूत्र - ५८७

शिथिलाचारी, बालक या वृद्ध, छोटी दासी और गृहस्थ द्वारा समय (सिद्धांत) के अनुसार अनुशासित होने पर–

सूत्र - ५८८

उन पर क्रोध न करे, व्यथित न हो, न ही किसी तरह की कठोर वाणी बोले 'अब मैं वैसा करूँगा, यह मेरे लिए श्रेय है' ऐसा स्वीकार कर प्रमाद न करे ।

सूत्र - ५८९

जैसे वन में दिग्मूढ व्यक्ति को सत्यज्ञाता व्यक्ति हीतकर मार्ग दिखलाते हैं और वह दिग्मूढ सोचता है कि अमूढ़ पुरुष जो मार्ग बता रहे हैं, वही मेरे लिए श्रेय है ।

सूत्र - ५९०

उस मूढ़ को अमूढ़ का विशेष रूप से पूजन करना चाहिए । वीर ने यही उपमा कही है । इसके अर्थ को जानकर साधक सम्यक् उपनय करता है ।

सूत्र – ५९१, ५९२

जैसे मार्गदर्शक नेता भी रात्रि के अंधकार में न देख पाने के कारण मार्ग नहीं जानता है पर वही सूर्योदय होने पर प्रकाशित मार्ग को जान लेता है ।वैसे ही अपुष्टधर्मी सेध अबुद्ध होने के कारण धर्म नहीं जानता है वही साधु जिनवचन से कोविद बन जाता है जैसे सूर्योदय होने पर नेता चक्षु द्वारा देख लेता है ।

सूत्र - ५९३

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति सदा संयत होकर परिव्रजन करे, मानसिक प्रद्वेष का विकल्प न करे ।

सूत्र - ५९४

प्रजा के मध्य द्रव्य एवं चित्त के व्याख्याकार से उचित समय पर समाधि के विषय में पूछे और कैवलिक-समाधि को जानकर उसे हृदय में स्थापित करे ।

सूत्र - ५९५

वैसा मुनि त्रिविध रूप सुस्थित होकर इनमें प्रवृत्त होता है । उससे शान्ति और (कर्म) निरोध होता है । त्रिलोकदर्शी कहते हैं कि वह पुनः प्रमाद में लिप्त नहीं होता ।

सूत्र - ५९६

वह भिक्षु अर्थ को सूनकर एवं समीक्षा कर प्रतिभावान और विशारद हो जाता है । वह आदानार्थी मुनि तप और संयम को प्राप्त कर शुद्ध निर्वाह कर मोक्ष पाता है ।

सूत्र - ५९७

जो अवसरोचित जानकर धर्म की व्याख्या करते हैं वे बोधि को प्राप्त ज्ञाता संसार का अन्त करनेवाले होते हैं । वे श्रुत के पारगामी विद्वान अपने अपने और शिष्य के संदेह-विमोचन के लिए संशोधित जिज्ञासाओं की व्याख्या करते हैं ।

सूत्र - ५९८

प्राज्ञ न अर्थ छिपाए, न अपरसिद्धान्त का प्रतिपादन करे, न मान करे, न आत्मप्रशंसा करे, न परिहार करे और न ही आशीर्वचन कहे ।

सूत्र - ५९९

जीव-हिंसा की आशंका से जुगुप्सित मुनि मंत्र पद से गौत्र का निर्वाह न करे । वह मनुज प्रजासे कुछ भी ईच्छा न करे, असाधु धर्मों का संवाद न करे ।

सूत्र - ६००

निर्मल और अकषायी मुनि पापधर्मीयों का परिहास न करे । अकिंचन रहे । सत्य कठोर होता है, इसे जाने। आत्महीनता एवं आत्मप्रशंसा न करे ।

सूत्र - ६०१

आशुप्रज्ञ भिक्षु अशंकित भाव से विभज्यवाद/स्याद्वाद का प्ररूपण करे । मुनि धर्म-समुत्थित पुरुषों के साथ मिश्र भाषा का प्रयोग करे ।

सूत्र - ६०२

कोई तथ्य को जानता है कोई नहीं । साधु अकर्कश/विनम्र भाव से उपदेश दे । कहीं भी भाषा सम्बन्धीत हिंसा न करे । छोटी-सी बात को लम्बी न खींचे ।

सूत्र – ६०३, ६०४

प्रतिपूर्णभाषी, अर्थदर्शी भिक्षु सम्यक् श्रवण कर बोले । आज्ञा-सिद्ध वचन का प्रयोग करे और पाप-विवेक का संधान करे । यथोक्त का शिक्षण प्राप्त करे, यतना करे, अधिक समय तक न बोले, ऐसा भिक्षु ही उस समाधि को कहने की विधि जान सकता है ।

सूत्र - ६०५

तत्त्वज्ञ भिक्षु प्रच्छन्नभाषी न बने, सूत्रार्थ को अन्य रूप न दे, शास्ता की भक्ति, परम्परागत सिद्धान्त और श्रुत/शास्त्र का सम्यक् प्रतिपादन करे ।

सूत्र - ६०६

वह शुद्ध सूत्रज्ञ और तत्त्वज्ञ है जो धर्म का सम्यक् ज्ञाता है । जिसका वचन लोकमान्य है, जो कुशल और व्यक्त है वही समाधि का प्रतिपादन करने में समर्थ है । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१४ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-१५ – आदानीय

सूत्र - ६०७

दर्शनावरण को समाप्त करने वाला एवं अतीत वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता तत्त्वानुरूप जानता है ।

सूत्र - ६०८

विचिकित्सा को समाप्त करने वाला अनुपम तत्त्व का ज्ञाता है । अनुपम तत्त्व का प्रतिपादक हर स्थान पर नहीं होता ।

सूत्र - ६०९

जो स्वाख्यात है वही सत्य और भाषित है । सत्य-सम्पन्न व्यक्ति के लिए जीवों से सदैव मैत्री ही उचित है ।

सूत्र - ६१०

जीवोंसे वैर विरोध न करे, यही सुसंयमी का धर्म है । सुसंयमी को जगत परिज्ञात है, यह जीवित भावना है

सूत्र - ६११

भावना-योग से विशुद्ध आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति जल में नौका के समान है । वह तट प्राप्त नौका की तरह सर्व दु:खों से मुक्त हो जाता है ।

सूत्र - ६१२

लोक में पाप का ज्ञाता मेघावी पुरुष इससे मुक्त हो जाता है । जो नवीन कर्म का अकर्ता है उसके पाप कर्म टूट जाते हैं ।

सूत्र - ६१३

जो नवीनकर्म का अकर्ता है, विज्ञाता है वह कर्म बन्धन नहीं करता है । इसे जानकर जो न उत्पन्न होता है और न मरता है, वह महावीर है ।

सूत्र - ६१४

जिसके पूर्वकृत (कर्म) नहीं है, वह महावीर मरता नहीं है । वह लोक में प्रिय स्त्रियों को वैसे ही पार कर जाता है जैसे वायु अग्नि को पार करता है ।

सूत्र - ६१५

जो स्त्री सेवन न करते हैं वे ही आदि मोक्ष हैं । बन्धन मुक्त वे मनुष्य जीवन की आकांक्षा नहीं करते हैं ।

सूत्र - ६१६

जो कर्मों के सम्मुखीभूत/साक्षी होकर मार्ग का अनुशासन करते हैं, वे जीवन को पीठ दिखाकर कर्म-क्षय करते हैं ।

सूत्र - ६१७

आशारहित, संयत, दान्त दृढ़ और मैथुन-विरत पूजा की आकांक्षा नहीं करते हैं । वे संयमी-प्राणियों में उनके योग्यतानुसार अनुशासन करते हैं ।

सूत्र - ६१८

जो स्रोत छिन्न, अनाविल/निर्मल है वह नीवार/प्रलोभन से लिप्त न हो । अनाविल एवं दान्त सदा अनुपम सन्धि/दशा प्राप्त करता है ।

सूत्र - ६१९

अप्रमत्त और खेदज्ञ पुरुष मन, वचन और काया से किसी का विरोध न करे ।

सूत्र - ६२०

जो आकांक्षा का अन्त करता है वह मनुष्यों का चक्षु है । उस्तरा अन्त से चलता है । चक्र भी अन्त/धूरी से घूमता है ।

सूत्र - ६२१

धीर अन्त का सेवन करते हैं अतः वे अन्तकर हो जाते हैं । वे नर इस मनुष्य जीवन में धर्माराधना कर–

सूत्र - ६२२

मुक्त होते हैं अथवा उत्तरीय देव होते हैं, ऐसा मैंने सूना है । कुछ लोगों से मैंने यह भी सूना है कि अमनुष्यों को वैसा नहीं होता ।

सूत्र - ६२३

कुछ लोगों ने कहा है कि (मनुष्य) दुःखों का अन्त करते हैं । पुनः कुछ लोग कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर दुर्लभ है ।

सूत्र - ६२४

वहाँ से च्युत जीव को सम्बोधि दुर्लभ है । धर्मार्थ के उपदेष्टा पूज्य पुरुष का योग भी दुर्लभ है ।

सूत्र - ६२५

जो प्रतिपूर्ण अनुपम, शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं और जो अनुपम धर्म का स्थान है उसके पुनर्जन्म की कथा कहाँ ।

सूत्र - ६२६

मेघावी तथागत पुनः कहाँ और कब उत्पन्न होते हैं । अप्रतिज्ञ तथागत लोक के अनुत्तर नेत्र हैं ।

सूत्र - ६२७

काश्यप ने उस अनुत्तर स्थान का प्रतिपादन किया है जिसके आचरण से कुछ साधक निर्वृत्त/उपशान्त होकर निष्ठा/मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

सूत्र - ६२८

पंडित/पुरुष कर्म-निघात/निर्जरा के लिए प्रवर्तक वीर्य को प्राप्त कर पूर्वकृत कर्म को समाप्त करे एवं नए कर्म न करे ।

सूत्र - ६२९

महावीर अनुपूर्व कर्म-रज का (बंध) नहीं करता । वह रज के सम्मुख होकर कर्म क्षय कर जो मत है (उसे प्राप्त कर लेता है) ।

सूत्र - ६३०

जो सर्व साधुओं को मान्य है वह मत निःशल्य है, उसकी साधना कर अनेक जीव तीर्ण हुए अथवा देव हुए हैं ।

सूत्र - ६३१

सुव्रत वीर अतीत में हुए हैं एवं अनागत में भी होंगे । वे स्वयं दुर्निबोध मार्ग के अन्त को प्रगट कर तीर्ण हो जाते हैं । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१५ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-१६ – गाथा

सूत्र - ६३२

भगवान ने कहा वह दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाला पुरुष माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ शब्द से सम्बोधित होता है । पूछा–भदन्त ! दान्त शुद्ध चैतन्यवान् आदि को निर्ग्रन्थ क्यों कहा जाता है? महामुने ! वह हमें कहें ।

जो सर्व पापकर्मों से विरत है, प्रेय द्वेष, कलह, आरोप, पैशुन्य, परपरिवाद, अरति-रति, माया-मृषा एवं मिथ्या दर्शन शल्य से विरत, समित, सहित, सदा संयत है एवं जो क्रोधी एवं अभिमानी नहीं है वह माहन कहलाता है ।

यहाँ भी श्रमण-अनिश्रित एवं आशंसा मुक्त होता है । जो आदान, अतिपात, मिथ्यावाद, समागत क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय और द्वेष–इस प्रकार जो-जो आत्म-प्रदोष के हेतु हैं उस-उस आदान से जो पूर्व में ही प्रति-विरत होता है, वह दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह विसर्जक 'श्रमण' कहलाता है ।

यहाँ भी भिक्षु–जो मन से न उन्नत है न अवनत, जो दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह विसर्जक है, विविध परीषहों एवं उपसर्गों को पराजित कर अध्यात्मयोग एवं शुद्ध स्वरूप में स्थित है, स्थितात्मा, विवेकी और परदत्त-भोजी है वह 'भिक्षु' कहलाता है ।

यहाँ भी निर्ग्रन्थ–एकाकी, एकविद्, बुद्ध, स्रोत छिन्न, सुसंयत, सुसमित, सुसामयिक, आत्म प्रवाद प्राप्त, विद्वान् द्विविध स्रोत परिच्छिन्न, पूजासत्कार का अनाकांक्षी, धर्मार्थी, धर्मविद्, मोक्ष मार्ग के लिए समर्पित, सम्यक् चारी, दान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह-विसर्जक 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है । उसे ऐसे ही जानो जैसे मैंने भदन्त से जाना। –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-१६ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

सूत्रकृत् अंगसूत्र-२ के श्रुतस्कन्ध–१ का
मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

श्रुतस्कन्ध-२

अध्ययन-१ – पुण्डरीक

सूत्र - ६३३

'हे आयुष्मन् ! मैंने सूना है–उन भगवान ने ऐसा कहा था'–इस आर्हत प्रवचन में पौण्डरीक नामक एक अध्ययन है, उसका यह अर्थ उन्होंने बताया जैसे कोई पुष्करिणी है, जो अगाध जल से परिपूर्ण है, बहुत कीचड़ वाली है, बहुत पानी होने से अत्यन्त गहरी है अथवा बहुत-से कमलों से युक्त है । वह पुष्करिणी नाम को सार्थक करने वाली या यथार्थ नाम वाली, अथवा जगत में लब्धप्रतिष्ठ है । वह प्रचुर पुण्डरीकों–से सम्पन्न है । वह पुष्करिणी देखने मात्र से चित्त को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, प्रशस्तरूप सम्पन्न, अद्वितीयरूप वाली है ।

उस पुष्करिणी के देश-देश में, तथा उन-उन प्रदेशों में–यत्र-तत्र बहुत-से उत्तमोत्तम पौण्डरीक कहे गए हैं; जो क्रमशः ऊंचे उठे हुए हैं । वे पानी और कीचड़ से ऊपर उठे हुए हैं । अत्यन्त दीप्तिमान हैं, रंग-रूप में अतीव सुन्दर हैं, सुगन्धित हैं, रसों से युक्त हैं, कोमल स्पर्श वाले हैं, चित्त को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, रूपसम्पन्न एवं सुन्दर हैं । उस पुष्करिणी के ठीक बीचोंबीच एक बहुत बड़ा तथा कमलों में श्रेष्ठ पौण्डरीक कमल स्थित बताया गया है । वह भी विलक्षण रचना से युक्त है, तथा कीचड़ और जल से ऊपर उठा हुआ है । वह अत्यन्त रुचिकर या दीप्तिमान है, मनोज्ञ है, उत्तम सुगन्ध से युक्त है, विलक्षण रसों से सम्पन्न है, कोमल स्पर्श युक्त है, अत्यन्त आह्लादक दर्शनीय, मनोहर और अति सुन्दर है ।

उस सारी पुष्करिणी में जहाँ-तहाँ, इधर-उधर सभी देश-प्रदेशों में बहुत से उत्तमोत्तम पुण्डरीक भरे पड़े हैं । वे क्रमशः उतार-चढ़ाव से सुन्दर रचना से युक्त हैं, यावत् अद्वितीय सुन्दर हैं । उस समग्र पुष्करिणी के ठीक बीच में एक महान उत्तम पुण्डरीक बताया गया है, जो क्रमशः उभरा हुआ यावत् सभी गुणों से सुशोभित बहुत मनोरम है ।

सूत्र - ६३४

अब कोई पुरुष पूर्वदिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर उस पुष्करिणी के तीर पर खड़ा होकर उस महान उत्तम एक पुण्डरीक को देखता है, जो क्रमशः सुन्दर रचना से युक्त यावत् बड़ा ही मनोहर है । इसके पश्चात् उस श्वेतकमल को देखकर उस पुरुष ने इस प्रकार कहा–''मैं पुरुष हूँ, खेदज्ञ हूँ, कुशल हूँ, पण्डित, व्यक्त, मेघावी तथा अबाल हूँ । मैं मार्गस्थ हूँ, मार्ग का ज्ञाता हूँ, मार्ग की गति एवं पराक्रम का विशेषज्ञ हूँ । मैं कमलों में श्रेष्ठ इस पुण्डरीक कमल को बाहर नीकाल लूँगा । इस ईच्छा से यहाँ आया हूँ–यह कहकर वह पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है । वह ज्यों-ज्यों उस पुष्करिणी में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक गहरा पानी और कीचड़ का उसे सामना करना पड़ता है । अतः वह व्यक्ति तीर से भी हट चूका और श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के पास भी नहीं पहुँच पाया । वह न इस पार का रहा, न उस पार का । अपितु उस पुष्करिणी के बीच में ही गहरे कीचड़ में फँस कर अत्यन्त क्लेश पाता है । यह प्रथम पुरुष की कथा है ।

सूत्र - ६३५

अब दूसरे पुरुष का वृत्तान्त बताया जाता है । दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर दक्षिण किनारे पर ठहर कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक को देखता है, जो विशिष्ट क्रमबद्ध रचना से युक्त है, यावत् अत्यन्त सुन्दर है । वहाँ वह उस पुरुष को देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चूका है, और उस प्रधान श्वेत-कमल तक पहुँच नहीं पाया है; जो न इधर का रहा है, न उधर का, बल्कि उस पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस गया है ।

तदनन्तर दक्षिण दिशा से आये हुए इस दूसरे पुरुष ने उस पहले पुरुष के विषय में कहा कि–''अहो ! यह पुरुष खेदज्ञ नहीं है, यह अकुशल है, पण्डित नहीं है, परिपक्व बुद्धि वाला तथा चतुर नहीं है, यह सभी बाल–अज्ञानी है । यह सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित नहीं है, न ही यह व्यक्ति मार्गवेत्ता है । जिस मार्ग में चलकर उद्देश्य को प्राप्त करता है, उस मार्ग की गतिविधि तथा पराक्रम को यह नहीं जानता । जैसा कि इस व्यक्ति ने यह समझा था कि मैं बड़ा खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ हूँ, कुशल हूँ, यावत् पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त हूँ, मैं इस पुण्डरीक को उखाड़ कर ले

आऊंगा, किन्तु यह पुण्डरीक इस तरह उखाड़ कर नहीं लाया जा सकता जैसा कि यह व्यक्ति समझ रहा है ।''

''मैं खेदज्ञ पुरुष हूँ, कुशल हूँ, हिताहित विज्ञ हूँ, परिपक्वबुद्धिसम्पन्न प्रौढ़ हूँ, तथा मेघावी हूँ, मैं नादान बच्चा नहीं हूँ, पूर्वज आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, उस पथ का ज्ञाता हूँ; उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम को जानता हूँ । मैं अवश्य ही इस उत्तम श्वेतकमल को उखाड़ कर बाहर निकाल लाऊंगा, यों कहकर वह द्वितीय पुरुष उस पुष्करिणी में उतर गया । ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक जल और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया । इस तरह वह भी किनारे से दूर हट गया और उस प्रधान पुण्डरीक कमल को भी प्राप्त न कर सका । यों वह न इस पार का रहा और न उस पार का रहा । यह पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस कर रह गया और दुःखी हो गया । यह दूसरे पुरुष का वृत्तान्त है ।

सूत्र - ६३६

दूसरे पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर उसके किनारे खड़ा हो कर उस एक महान श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो विशेष रचना से युक्त यावत् पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त अत्यन्त मनोहर है । वह वहाँ उन दोनों पुरुषों को भी देखता है, जो तीर से भ्रष्ट हो चूके और उस उत्तम श्वेत कमल को भी नहीं सके, तथा जो न इस पार के रहे और न उस पार के रहे, अपितु पुष्करिणी के अधबीच में अगाध कीचड़ में ही फँस कर दुःखी हो गए थे । इसके पश्चात् उस तीसरे पुरुष ने उन दोनों पुरुषों के लिए कहा–''अहो ! ये दोनों व्यक्ति खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ नहीं है, कुशल भी नहीं है, न पण्डित हैं यावत् जिस मार्ग पर चलकर जीव अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसे ये नहीं जानते । इसी कारण ये दोनों पुरुष ऐसा मानते थे कि हम इस उत्तम श्वेत कमल को उखाड़ कर बाहर नीकाल लाएंगे, परन्तु इस उत्तम श्वेत कमल को इस प्रकार उखाड़ लाना सरल नहीं, जितना कि ये दोनों पुरुष मानते हैं ।''

''अलबत्ता मैं खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ), कुशल, पण्डित, परिपक्व बुद्धिसम्पन्न, यावत् ज्ञाता हूँ । मैं इस उत्तम श्वेत कमल को बाहर नीकाल कर ही रहूँगा, मैं यह संकल्प करके ही यहाँ आया हूँ ।'' यों कहकर उस तीसरे पुरुष ने पुष्करिणी में प्रवेश किया और ज्यों-ज्यों उसने आगे कदम बढ़ाए, त्यों-त्यों उसे बहुत अधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ का सामना करना पड़ा । अतः वह तीसरा व्यक्ति भी वहीं कीचड़ में फँस गया, अत्यन्त दुःखी हो गया । न इस पार का रहा और न उस पार का । यह तीसरे पुरुष की कथा है ।

सूत्र - ६३७

तीसरे पुरुष के पश्चात् चौथा पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर, किनारे खड़ा होकर उस एक महान श्वेत कमल को देखता है, जो विशिष्ट रचना से युक्त यावत् मनोहर है । तथा वह वहाँ उन तीनों पुरुषों को भी देखता है, जो तीर से बहुत दूर हट चूके हैं और श्वेत कमल तक भी नहीं पहुँच सके हैं अपितु पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस गए हैं । तदनन्तर उन तीनों पुरुषों के लिए उस चौथे पुरुष ने इस प्रकार कहा–''अहो ! ये तीनों पुरुष खेदज्ञ नहीं है, यावत् मार्ग की गतिविधि एवं पराक्रम के विशेषज्ञ नहीं है । इसी कारण ये लोग समझते हैं कि हम उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को उखाड़ कर ले आएंगे; किन्तु यह उत्तम श्वेत कमल इस प्रकार नहीं नीकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग मान रहे हैं ।''

''मैं खेदज्ञ पुरुष हूँ, यावत् उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का विशेषज्ञ हूँ । मैं इस प्रधान श्वेत कमल को उखाड़ कर ले आऊंगा इसी अभिप्राय से मैं कृतसंकल्प होकर यहाँ आया हूँ ।'' यों कहकर वह चौथा पुरुष भी पुष्करिणी में उतरा और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया । वह पुरुष उस पुष्करिणी के बीच में ही भारी कीचड़ में फँस कर दुःखी हो गया । अब न तो वह इस पार का रहा, न उस पार का । इस प्रकार चौथे पुरुष का भी वही हाल हुआ ।

सूत्र - ६३८

इसके पश्चात् राग-द्वेष रहित, संसार-सागर के तीर यावत् मार्ग की गति और पराक्रम का विशेषज्ञ तथा

निर्दोष भिक्षापात्र से निर्वाह करने वाला साधु किसी दिशा अथवा विदिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर उसके तट पर खड़ा होकर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो अत्यन्त विशाल यावत् मनोहर है । और वहाँ वह भिक्षु उन चारों पुरुषों को भी देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चूके हैं, और उत्तम श्वेत कमल को भी नहीं पा सके हैं । जो पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस गए हैं ।

इसके पश्चात् उस भिक्षुने उन चारों पुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा–अहो ! ये चारों व्यक्ति खेदज्ञ नहीं हैं, यावत् मार्ग की गति एवं पराक्रम से अनभिज्ञ हैं । इसी कारण ये लोग यों समझने लगे कि 'हम लोग इस श्रेष्ठ श्वेत कमल को नीकाल कर ले जाएंगे, परन्तु यह उत्तम श्वेत कमल इस प्रकार नहीं नीकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग समझते हैं ।

''मैं निर्दोष भिक्षाजीवी साधु हूँ, राग-द्वेष से रहित हूँ । मैं संसार सागर के पार जाने का ईच्छुक हूँ, क्षेत्रज्ञ हूँ यावत् जिस मार्ग से चलकर साधक अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के लिए पराक्रम करता है, उसका विशेषज्ञ हूँ । मैं इस उत्तम श्वेत कमल को निकालूँगा, इसी अभिप्राय से यहाँ आया हूँ ।'' यों कहकर वह साधु उस पुष्करिणी के भीतर प्रवेश नहीं करता, वह उसके तट पर खड़ा-खड़ा ही आवाझ देता है–''हे उत्तम श्वेत कमल ! वहाँ से उठकर आ जाओ, आ जाओ !'' यों वह उत्तम पुण्डरीक उस पुष्करिणी से उठकर आ जाता है ।

सूत्र - ६३९

''आयुष्मन् श्रमणों ! तुम्हें मैंने यह दृष्टान्त कहा है; इसका अर्थ जानना चाहिए ।'' 'हाँ, भदन्त !' कहकर साधु और साध्वी श्रमण भगवान महावीर को वन्दना और नमस्कार करके भगवान महावीर से कहते हैं–''आयुष्मन् श्रमण भगवान ! आपने जो दृष्टान्त बताया उसका अर्थ हम नहीं जानते ।'' श्रमण भगवान महावीर ने उन बहुत-से निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को कहा–'आयुष्मन् श्रमण-श्रमणियों ! मैं इसका अर्थ बताता हूँ । अर्थ स्पष्ट करता हूँ । पर्यायवाची शब्दों द्वारा उसे कहता हूँ, हेतु और दृष्टान्तों द्वारा हृदयंगम कराता हूँ; अर्थ, हेतु और निमित्त सहित उस अर्थ को बार-बार बताता हूँ ।'

सूत्र - ६४०

अर्थ को मैं कहता हूँ–''आयुष्मन् श्रमणों ! मैंने अपनी ईच्छा से मानकर इस लोक को पुष्करिणी कहा है । और हे आयुष्मन् श्रमणों ! कर्म को इस पुष्करिणी का जल कहा है । आयुष्मन् श्रमणों ! काम भोगों को पुष्करिणी का कीचड़ कहा है । मैंने अपनी दृष्टि से आर्य देशों के मनुष्यों और जनपदों को पुष्करिणी के बहुत-से श्वेत कमल कहा है । मैंने मन में निश्चित करके राजा को उस पुष्करिणी का एक महान श्रेष्ठ श्वेत कमल कहा है । और मैंने अन्यतीर्थिकों को उस पुष्करिणी के कीचड़ में फँसे हुए चार पुरुष बताया है । मैंने अपनी बुद्धि से चिन्तन करके धर्म को वह भिक्षु बताया है । मैंने सोचकर धर्मतीर्थ को पुष्करिणी का तट बताया है । और आयुष्मन् श्रमणों ! मैंने अपनी आत्मा में निश्चित करके धर्मकथा को उस भिक्षु का वह शब्द कहा है । आयुष्मन् श्रमणों ! मैंने अपने मन में स्थिर करके निर्वाण को श्रेष्ठ पुण्डरीक का पुष्करिणी से उठकर बाहर आना कहा है । इन पुष्करिणी आदि को इन लोक आदि के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है ।

सूत्र - ६४१

इस मनुष्य लोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में उत्पन्न कईं प्रकार के मनुष्य होते हैं, जैसे कि–उन मनुष्यों में कईं आर्य होते हैं अथवा कईं अनार्य होते हैं, कईं उच्चगोत्रीय होते हैं, कईं नीचगोत्रीय । उनमें से कोई भीमकाय होता है, कईं ठिगने कद के होते हैं । कोई सुन्दर वर्ण वाले होते हैं, तो कोई बूरे वर्ण वाले । कोई सुरूप होते हैं तो कोई कुरूप होते हैं । उन मनुष्यों में कोई एक राजा होता है । वह महान हिमवान् मलयाचल, मन्दराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान सामर्थ्यवान होता है । वह अत्यन्त विशुद्ध राजकुल के वंश में जन्मा हुआ होता है । उसके अंग राजलक्षणों से सुशोभित होते हैं । उसकी पूजा-प्रतिष्ठा अनेक जनों द्वारा बहुमानपूर्वक की जाती है, वह गुणों से समृद्ध होता है, वह क्षत्रिय होता है । सदा प्रसन्न रहता है । राज्याभिषेक किया हुआ होता है ।

वह अपने माता-पिता का सुपुत्र होता है । उसे दया प्रिय होती है । वह सीमंकर तथा सीमंधर होता है । वह क्षेमंकर तथा क्षेमंधर होता है । वह मनुष्यों में इन्द्र, जनपद का पिता, और जनपद का पुरोहित होता है । वह अपने राज्य या राष्ट्र की सुख-शांति के लिए सेतुकर और केतुकर होता है । वह मनुष्यों में श्रेष्ठ, पुरुषों में वरिष्ठ, पुरुषों में सिंहसम, पुरुषों में आसीविष सर्प समान, पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक तुल्य, पुरुषों में श्रेष्ठ मत्तगन्धहस्ती के समान होता है । वह अत्यन्त धनाढ्य, दीप्तिमान एवं प्रसिद्ध पुरुष होता है । उसके पास विशाल विपुल भवन, शय्या, आसन, यान तथा वाहन की प्रचुरता रहती है ।

उसके कोष प्रचुर धन, सोना, चाँदी से भरे रहते हैं । उसके यहाँ प्रचुर द्रव्य की आय होती है, और व्यय भी बहुत होता है । उसके यहाँ से बहुत-से लोगों को पर्याप्त मात्रा में भोजन-पानी दिया जाता है । उसके यहाँ बहुत-से दासी-दास, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि पशु रहते हैं । उसके धान्य का कोठार अन्न से, धन के कोश प्रचुर द्रव्य से और आयुधागार विविध शस्त्रास्त्रों से भरा रहता है । वह शक्तिशाली होता है । वह अपने शत्रुओं को दुर्बल बनाए रखता है । उसके राज्य में कंटक–चोरों, व्यभिचारियों, लूटेरों तथा उपद्रवियों एवं दुष्टों का नाश कर दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, उन्हें कुचल दिया जाता है, उनके पैर उखाड़ दिये जाते हैं, जिससे उसका राज्य निष्कण्टक हो जाता है । उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं को नष्ट कर दिया जाता है, उन्हें उखेड़ दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, अथवा उनके पैर उखाड़ दिये जाते हैं, उन शत्रुओं को जीत लिया जाता है, उन्हें हरा दिया जाता है । उसका राज्य दर्भिक्ष और महामारी आदि के भय से विमुक्त होता है । यहाँ से लेकर ''जिसमें स्वचक्र-परचक्र का भय शान्त हो गया है, ऐसे राज्य का प्रशासन–पालन करता हुआ वह राजा विचरण करता है ।''

उस राजा की परीषद् होती है । उसके सभासद–उग्र-उग्रपुत्र, भोग तथा भोगपुत्र, इक्ष्वाकु तथा इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञात तथा ज्ञातपुत्र, कौरव तथा कौरवपुत्र, सुभट तथा सुभटपुत्र, ब्राह्मण तथा ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी तथा लिच्छवी-पुत्र, प्रशास्तागण तथा प्रशास्तृपुत्र, सेनापति और सेनापतिपुत्र । इनमें से कोई एक धर्म में श्रद्धालु होता है । उस धर्म-श्रद्धालु पुरुष के पास श्रमण या ब्राह्मण धर्म प्राप्ति की ईच्छा से जाने का निश्चय करते हैं । किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले वे श्रमण और ब्राह्मण यह निश्चय करते हैं कि हम इस धर्मश्रद्धालु पुरुष के समक्ष अपने इस धर्म की प्ररूपणा करेंगे । वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास जाकर कहते हैं–हे संसारभीरु धर्मप्रेमी ! अथवा भय से जनता के रक्षक महाराज ! मैं जो भी उत्तम धर्म की शिक्षा आप को दे रहा हूँ उसे ही आप पूर्वपुरुषों द्वारा सम्यक् प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त समझें ।''

वह धर्म इस प्रकार है–पादतल से ऊपर और मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तक तथा तीरछा–चमड़ी तक जो शरीर है, वही जीव है । यह शरीर ही जीव का समस्त पर्याय है । इस शरीर के जीने तक ही यह जीव जीता रहता है, शरीर के मरने पर यह नहीं जीता, शरीर के स्थित रहने तक जीव स्थित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है । इसलिए जब तक शरीर है, तभी तक यह जीवन है । शरीर जब मर जाता है तब दूसरे लोग उसे जलाने ले जाते हैं, आग से शरीर के जल जाने पर हड्डियाँ कपोत वर्ण की हो जाती है । इसके पश्चात् मृत व्यक्ति को श्मशान भूमि में पहुँचाने वाले जघन्य चार पुरुष मृत शरीर को ढोने वाली मंचिका को लेकर अपने गाँवमें लौट आते हैं । ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ नहीं है ।

जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव पृथक् है और शरीर पृथक् है, वे इस प्रकार पृथक् पृथक् करके नहीं बता सकते कि–यह आत्मा दीर्घ है, यह ह्रस्व है, यह चन्द्रमा के समान परिमण्डलाकार है, अथवा गेंद की तरह गोल है, यह त्रिकोण है, या चतुष्कोण है, या यह षट्कोण या अष्टकोण है, यह आयत है, यह काला, नीला, लाल, पीला या श्वेत है; यह सुगन्धित है या दुर्गन्धित है, यह तिक्त है या कड़वा है अथवा कसैला, खट्टा या मीठा है; अथवा यह कर्कश है या कोमल है अथवा भारी है या हलका अथवा शीतल है या उष्ण है, स्निग्ध है अथवा रूक्ष है ।

इसलिए जो लोग जीव को शरीर से भिन्न नहीं मानते, उनका मत ही युक्तिसंगत है ।

जिन लोगों का यह कथन है कि जीव अन्य है, और शरीर अन्य है, वे जीव को उपलब्ध नहीं करा पाते–

(१) जैसे कि कोई व्यक्ति म्यान से तलवार को बाहर नीकाल कर कहता है–यह तलवार है, और यह म्यान है । इसी प्रकार कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर से जीव को पृथक् करके दिखला सके कि यह आत्मा है और यह शरीर है

(२) जैसे कि कोई पुरुष मुंज नामक घास के इषिका को बाहर नीकाल कर बतला देता है कि यह मुंज है, और यह इषिका है । इसी प्रकार ऐसा कोई उपदर्शक पुरुष नहीं है, जो यह बता सके कि यह आत्मा है और यह शरीर है ।

(३) जैसे कोई पुरुष माँस से हड्डी को अलग करके बतला देता है कि यह माँस है और यह हड्डी है । इसी तरह कोई ऐसा उपदर्शक पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को अलग करके दिखला दे कि यह आत्मा है और यह शरीर है ।

(४) जैसे कोई पुरुष हथेली से आँबले को बाहर नीकाल कर दिखला देता है कि यह हथेली है, और यह आँवला है । इसी प्रकार कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखा दे कि यह आत्मा है, और यह शरीर है ।

(५) जैसे कोई पुरुष दहीं से नवनीत को अलग नीकाल कर दिखला देता है कि ''आयुष्मन् ! यह नवनीत है और यह दहीं है ।'' इस प्रकार कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि यह आत्मा है और यह शरीर है ।

(६) जैसे कोई पुरुष तिलों से तेल नीकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि ''आयुष्मन् ! यह तेल है और यह तिलों की खली है,'' वैसे कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर को आत्मा से पृथक् करके दिखा सके कि यह आत्मा है, और यह उससे भिन्न शरीर है ।

(७) जैसे कि कोई पुरुष ईख से उसका रस नीकाल कर दिखा देता है कि ''आयुष्मन् ! यह ईख का रस है और यह उसका छिलका है;'' इसी प्रकार ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर और आत्मा को अलग-अलग करके दिखला दे कि यह आत्मा है और यह शरीर है ।

(८) जैसे कि कोई पुरुष अरणि की लकड़ी से आग नीकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि–यह अरणि है और यह आग है, इसी प्रकार कोई ऐसा नहीं है जो शरीर और आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि यह आत्मा है और यह शरीर है । इसलिए आत्मा शरीर से पृथक् उपलब्ध नहीं होती, यही बात युक्तियुक्त है । इस प्रकार जो पृथगात्मवादी बारबार प्रतिपादन करते हैं, कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है, पूर्वोक्त कारणों से उनका कथन मिथ्या है ।

इस प्रकार तज्जीवतच्छरीरवादी स्वयं जीवों का हनन करते हैं, तथा इन जीवों को मारो, यह पृथ्वी खोद ड़ालो, यह वनस्पति काटो, इसे जला दो, इसे पकाओ, इन्हें लूँट लो या इनका हरण कर लो, इन्हें काट दो या नष्ट कर दो, बिना सोचे विचारे सहसा कर डालो, इन्हें पीड़ित करो इत्यादि । इतना (शरीरमात्र) ही जीव है, परलोक नहीं है । वे शरीरात्मवादी नहीं मानते कि–सत्क्रिया या असत्क्रिया, सुकृत या दुष्कृत, कल्याण या पाप, भला या बूरा, सिद्धि या असिद्धि, नरक या स्वर्ग आदि । इस प्रकार वे शरीरात्मवादी अनेक प्रकार के कर्मसमारम्भ करके विविध प्रकार के कामभोगों का सेवन करते हैं ।

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा न मानने की धृष्टता करने वाले कोई प्रव्रज्या धारण करके 'मेरा ही धर्म सत्य है,' ऐसी प्ररूपणा करते हैं । इस शरीरात्मवाद में श्रद्धा, प्रतीति, रुचि रखते हुए कोई राजा आदि उस शरीरा-त्मवादी से कहते हैं–'हे श्रमण या ब्राह्मण ! आपने हमें यह तज्जीव-तच्छरीरवाद रूप उत्तम धर्म बताकर बहुत ही अच्छा किया, हे आयुष्मन् ! अतः हम आपकी पूजा करते हैं, हम अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य अथवा वस्त्र, पात्र,

कम्बल अथवा पाद-प्रोंछन आदि के द्वारा आपका सत्कार-सम्मान करते हैं । यों कहते हुए कईं राजा आदि उनकी पूजा में प्रवृत्त होते हैं, और उन स्वमतस्वीकृत राजा आदि को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अपने मत-सिद्धान्त में दृढ़ कर देते हैं ।

इन शरीरात्मवादियों ने पहले तो वह प्रतिज्ञा की होती है कि 'हम अनगार, अकिंचन, अपुत्र, अपशु, परदत्त भोजी, भिक्षु एवं श्रमण बनेंगे, अब हम पापकर्म नहीं करेंगे,' ऐसी प्रतिज्ञा के साथ वे स्वयं दीक्षा ग्रहण करके भी पापकर्मों से विरत नहीं होते, वे स्वयं परिग्रह को ग्रहण करते हैं, दूसरे से ग्रहण कराते हैं और परिग्रह ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करते हैं, इसी प्रकार वे स्त्री तथा अन्य कामभोगों में आसक्त, गृद्ध, ईच्छा और लालसा से युक्त, लुब्ध, राग-द्वेष के वशीभूत एवं आर्त्त रहते हैं । वे न तो अपनी आत्मा को संसार से या कर्मपाश से मुक्त कर पाते हैं, न वे दूसरों को मुक्त कर सकते हैं, और न वे अन्य प्राणीयों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को मुक्त कर सकते हैं । वे अपने स्त्री-पुत्र, धन धान्य आदि पूर्वसंयोग से प्रभ्रष्ट हो चूके हैं, और आर्यमार्ग को नहीं पा सके हैं । अतः वे न तो इस लोक के होते हैं, और न ही पर लोक के होते हैं । बीच में कामभोगों में आसक्त हो जाते हैं । इस प्रकार प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी कहा गया है ।

सूत्र - ६४२

पूर्वोक्त प्रथम पुरुष से भिन्न दूसरा पुरुष पञ्चमहाभूतिक कहलाता है । इस मनुष्यलोक की पूर्व आदि दिशाओं में मनुष्य रहते हैं । वे क्रमशः नाना रूपों में मनुष्यलोक में उत्पन्न होते हैं, जैसे कि–कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य । यावत् कोई कुरूप आदि होते हैं । उन मनुष्यों में से कोई एक महान पुरुष राजा होता है । यावत् उन सभासदों में से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है । वे श्रमण और माहन उसके पास जाने का निश्चय करते हैं । वे किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले अन्यतीर्थिक श्रमण और माहन राजा आदि से कहते हैं–''हम आपको उत्तम धर्म की शिक्षा देंगे ।'' हे भयत्राताओ ! मैं जो भी उत्तम धर्म का उपदेश आपको दे रहा हूँ, वही पूर्वपुरुषों द्वारा सम्यक् प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त है ।''

इस जगत में पंचमहाभूत ही सब कुछ हैं । जिनसे हमारी क्रिया या अक्रिया, सुकृत अथवा दुष्कृत, कल्याण या पाप, अच्छा या बूरा, सिद्धि या असिद्धि, नरकगति या नरक के अतिरिक्त अन्य गति; अधिक कहाँ तक कहें, तिनके से हिलने जैसी क्रिया भी होती है ।

उस भूत–समवाय को पृथक्-पृथक् नाम से जानना । पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाँचवा महाभूत है । ये पाँच महाभूत निर्मित नहीं हैं, न ही ये निर्मापित हैं, ये कृत नहीं है, न ही ये कृत्रिम हैं, और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं । ये पाँचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवश्य कार्य करने वाले हैं । इन्हें प्रवृत्त करने वाला दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतंत्र एवं शाश्वत है ।

कोई पंचमहाभूत और छठे आत्मा को मानते हैं । कहते हैं कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती । ''इतना ही जीवकाय है, इतना ही अस्तिकाय है, इतना ही समग्र जीवलोक है । ये पंचमहाभूत ही लोक के प्रमुख कारण हैं, यहाँ तक कि तृण का कम्पन भी इन पंचमहाभूतों के कारण होता है ।'' (इस दृष्टि से) स्वयं खरीदता हुआ, दूसरे से खरीद कराता हुआ, एवं प्राणियों का स्वयं घात करता हुआ तथा दूसरे से घात कराता हुआ, स्वयं पकाता और दूसरों से पकवाता हुआ, यहाँ तक कि किसी पुरुष को खरीद कर घात करने वाला पुरुष भी दोष का भागी नहीं होता क्योंकि इन सब कार्यों में कोई दोष नहीं है, यह समझ लो ।''

वे क्रिया से लेकर नरक से भिन्न गति तक के पदार्थों को नहीं मानते । वे नाना प्रकार के सावद्य कार्यों के द्वारा कामभोगों की प्राप्ति के लिए सदा आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त रहते हैं । अतः वे अनार्य, तथा विपरीत विचार वाले हैं । इन पंचमहाभूतवादियों के धर्म में श्रद्धा रखने वाले एवं इनके धर्म को सत्य मानने वाले राजा आदि इनकी पूजा-प्रशंसा तथा आदर सत्कार करते हैं, विषयभोग-सामग्री इन्हें भेंट करते हैं । इस प्रकार सावद्य अनुष्ठान में भी

अधर्म न मानने वाले वे पंचमहाभूतवादी स्त्री सम्बन्धी कामभोगों में मूर्च्छित होकर न तो इहलोक के रहते हैं और न ही परलोक के । उभयभ्रष्ट होकर बीच में ही कामभोगों में फँस कर कष्ट पाते हैं । यह दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहा गया है ।

सूत्र - ६४३

तीसरा पुरुष 'ईश्वरकारणिक' कहलाता है । इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य होते हैं, जो क्रमशः इस लोक में उत्पन्न हैं । जैसे कि उनमें से कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य इत्यादि । उनमें कोई एक श्रेष्ठ पुरुष महान राजा होता है, इत्यादि पूर्ववत् । इन पुरुषों में से कोई एक धर्मश्रद्धालु होता है । उस धर्मश्रद्धालु के पास जाने का तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण निश्चय करते हैं । वे उसके पास जाकर कहते हैं–हे भयत्राता महाराज! मैं आपको सच्चा धर्म सूनाता हूँ, जो पूर्वपुरुषों द्वारा कथित एवं सुप्रज्ञप्त है, यावत् आप उसे ही सत्य समझें । इस जगत में जितने भी चेतन–अचेतन धर्म हैं, वे सब पुरुषादिक हैं–ईश्वर या आत्मा आदि कारण हैं; वे सब पुरुषोत्तरिक्त हैं–ईश्वर या आत्मा ही सब पदार्थों का कार्य है, अथवा संहारकर्ता है, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से ही उत्पन्न हैं, ईश्वर द्वारा प्रकाशित हैं, ईश्वर के अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर टिके हुए हैं ।

जैसे किसी प्राणी के शरीर में हुआ फोड़ा शरीर से ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है, अनुगामी बनता है और शरीर का ही आधार लेकर टिकता है, इसी तरह सभी धर्म ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, वृद्धिगत होते हैं, अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर ही स्थित रहते हैं । जैसे अरति शरीर से ही उत्पन्न होती है, बढ़ती है, अनुगामिनी बनती है, और शरीर को ही पीड़ित करती हुई रहती है, इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न, वृद्धिगत और उसीके आश्रय से स्थित हैं । जैसे वल्मीक पृथ्वी से उत्पन्न होता है, बढ़ता है, अनुगामी है तथा पृथ्वी का ही आश्रय लेकर रहता है, वैसे ही समस्त पदार्थ भी ईश्वर से ही उत्पन्न होकर उसीमें लीन होकर रहते हैं ।

जैसे कोई वृक्ष मिट्टी से ही उत्पन्न होता है, संवर्द्धन होता है, अनुगामी बनता है और मिट्टी में ही व्याप्त होकर रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न, संवर्द्धित और अनुगाममिक होते हैं और अन्त में उसीमें व्याप्त होकर रहते हैं । जैसे पुष्करिणी पृथ्वी से उत्पन्न होती है, और यावत् पृथ्वी में ही लीन होकर रहती है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और उसीमें ही लीन होकर रहते हैं ।

जैसे कोई जल का पुष्कर हो, वह जल से ही उत्पन्न होता है यावत् जल को ही व्याप्त करके रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न संवर्द्धित एवं अनुगामी होकर उसीमें विलीन होकर रहते हैं । जैसे कोई पानी का बुदबुद् पानी से उत्पन्न होता है, यावत् अन्त में पानी में ही विलीन हो जाता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसीमें व्याप्त होकर रहते हैं ।

यह जो श्रमणों-निर्ग्रन्थों द्वारा कहा हुआ, रचा हुआ या प्रकट किया हुआ द्वादशाङ्ग गणिपिटक है, जैसे कि–आचारांग, सूत्रकृतांग से लेकर दृष्टिवाद तक, यह सब मिथ्या है, यह तथ्य नहीं है और न ही यह यथातथ्य है, यह जो हमारा (ईश्वरकर्तृत्ववाद है) यह सत्य है, तथ्य है, यथातथ्य है । इस प्रकार वे ऐसी संज्ञा रखते हैं; वे अपने शिष्यों के समक्ष तथा सभा में भी वे इसी मान्यता से सम्बन्धित युक्तियाँ मताग्रहपूर्वक उपस्थित करते हैं । जैसे पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ सकता वैसे ही अपने ईश्वर-कर्तृत्ववाद को अत्यन्ताग्रह के कारण नहीं छोड़ सकते, अतः इस मत के स्वीकार करने से उत्पन्न दुःख को नहीं तोड़ सकते । वे नाना प्रकार के पापकर्मयुक्त अनुष्ठानों के द्वारा कामभोगों के उपभोग के लिए अनेक प्रकार के कामभोगों का आरम्भ करते हैं । वे अनार्य हैं, वे विपरीत मार्ग को स्वीकार किये हुए हैं । इस प्रकार के ईश्वरकर्तृत्ववाद में श्रद्धाप्रतीति रखने वाले वे धर्मश्रद्धालु राजा आदि उन मत-प्ररूपक साधकों की पूजा-भक्ति करते हैं, इत्यादि वे उभयभ्रष्ट लोग बीच में ही कामभोगों में फँस कर दुःख पाते हैं। यह तीसरे ईश्वरकारणवादी का स्वरूप कहा गया है ।

सूत्र - ६४४

अब नियतिवादी नामक चौथे पुरुष का वर्णन किया गया है । इस मनुष्यलोक में पूर्वादि दिशाओं के वर्णन

से यावत् प्रथम पुरुषोक्त पाठ के समान जानना । पूर्वोक्त राजा और उसके सभासदों में से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है । उसे धर्मश्रद्धालु जान कर उसके निकट जाने का श्रमण और ब्राह्मण निश्चय करते हैं । यावत् वे उसके पास जाकर कहते हैं–''मैं आपको पूर्वपुरुषकथित और सुप्रज्ञप्त धर्म का उपदेश करता हूँ ।'' इस लोक में दो प्रकार के पुरुष होते हैं–एकपुरुष क्रिया का कथन करता है, दूसरा क्रिया का कथन नहीं करता । वे दोनों ही नियति के अधीन होने से समान हैं, तथा वे दोनों एक ही अर्थ वाले और एक ही कारण (नियतिवाद) को प्राप्त हैं ।

ये दोनों ही अज्ञानी हैं, अपने सुख दुःख के कारणभूत काल, कर्म तथा ईश्वर आदि को मानते हुए यह समझते हैं कि मैं जो कुछ भी दुःख पा रहा हूँ, शोक कर रहा हूँ, दुःख से आत्मनिन्दा कर रहा हूँ, या शारीरिक बल का नाश कर रहा हूँ, पीड़ा पा रहा हूँ, या संतप्त हो रहा हूँ, वह सब मेरे ही किये हुए कर्म हैं, तथा दूसरा जो दुःख पाता है, शोक करता है, आत्मनिन्दा करता है, शारीरिक बल का क्षय करता है, पीड़ित होता है या संतप्त होता है, वह सब उसके द्वारा किये हुए कर्म हैं । इस कारण वह अज्ञजीव स्वनिमित्तक तथा परनिमित्तक सुखदुःखादि को अपने तथा दूसरे के द्वारा कृत कर्मफल समझता है, परन्तु एकमात्र नियति को ही समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला पुरुष तो यह समझता है कि 'मैं जो कुछ दुःख भोगता हूँ, शोकमग्न होता हूँ या संतप्त होता हूँ, वे सब मेरे किये हुए कर्म नहीं है, तथा दूसरा पुरुष जो दुःख पाता है, शोक आदि से संतप्त-पीड़ित होता है, वह भी उसके द्वारा कृतकर्मों का फल नहीं है, इस प्रकार वह बुद्धिमान पुरुष अपने या दूसरे के निमित्त से प्राप्त हुए दुःख आदि को यों मानता है कि ये सब नियतिकृत हैं, किसी दूसरे के कारण से नहीं ।

अतः मैं कहता हूँ कि पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना को प्राप्त करते हैं, वे नियति के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं, वे नियतिवशात् ही शरीर से पृथक् होते हैं, काना, कुबड़ा आदि नाना प्रकार की दशाओं को प्राप्त करते हैं, नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार नियति को ही समस्त अच्छे बूरे कार्यों का कारण मानने की कल्पना करके नियतिवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते–क्रिया, अक्रिया से लेकर प्रथम सूत्रोक्त नरक और नरक से अतिरिक्त गति तक के पदार्थ । इस प्रकार वे नियतिवाद के चक्र में पड़े हुए लोग नाना प्रकार के सावद्यकर्मों का अनुष्ठान करके कामभोगों का उपभोग करते हैं, इसी कारण वे अनार्य हैं, वे भ्रम में पड़े हैं । वे न तो इस लोक के होते हैं और न परलोक के अपितु कामभोगों में फँसकर कष्ट भोगते हैं ।

इस प्रकार ये पूर्वोक्त चार पुरुष भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले, विभिन्न अभिप्राय वाले, विभिन्न शील वाले, पृथक् पृथक् दृष्टि वाले, नाना रुचि वाले, अलग-अलग आरम्भ धर्मानुष्ठान वाले तथा विभिन्न अध्यवसाय वाले हैं । इन्होंने पूर्वसंयोगों को तो छोड़ दिया, किन्तु आर्यमार्ग को अभी तक पाया नहीं है । इस कारण वे न तो इस लोक के रहते हैं और न ही परलोक के होते हैं, किन्तु बीच में ही कामभोगों में ग्रस्त होकर कष्ट पाते हैं ।

सूत्र - ६४५

मैं ऐसा कहता हूँ कि पूर्व आदि चारों दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं, जैसे कि कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते हैं, यावत् कोई कुरूप । उनके पास खेत और मकान आदि होते हैं, उनके अपने जन तथा जनपद परिगृहीत होते हैं, जैसे कि किसी का परिग्रह थोड़ा और किसी का अधिक । इनमें से कोई पुरुष पूर्वोक्त कुलों में जन्म लेकर विषय-भोगों की आसक्ति छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए उद्यत होते हैं । कईं विद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन तथा उपकरण को छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए समुद्यत होते हैं, अथवा कईं अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एवं उपकरण का त्याग करके भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए समुद्यत होते हैं ।

जो विद्यमान अथवा अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एवं उपकरण का त्याग करके भिक्षाचर्या के लिए समुत्थित होते हैं, इन दोनों प्रकार के ही साधकों को पहले से ही यह ज्ञात होता है कि इस लोक में पुरुषगण अपने से भिन्न वस्तुओं को उद्देश्य करके झूठमूठ ही ऐसा मानते हैं कि ये मेरी है, मेरे उपभोग में आएंगी, जैसे कि–यह

खेत मेरा है, यह मकान मेरा है, यह चाँदी मेरी है, यह सोना मेरा है, यह धन-धान्य मेरा है, यह काँसे के बर्तन मेरे हैं, यह बहुमूल्य वस्त्र या लोह आदि धातु मेरा है, यह प्रचुर धन यह बहुत-सा कनक, ये रत्न, मणि, मोती, शंखशिला, प्रवाल, रक्तरत्न, पद्मराग आदि उत्तमोत्तम मणियाँ और पैत्रिक नकद धन, मेरे हैं, ये वीणा, वेणु आदि वाद्य मेरे हैं, ये सुन्दर और रूपवान् पदार्थ मेरे हैं, ये सुगन्धित पदार्थ मेरे हैं, ये उत्तमोत्तम स्वादिष्ट एवं सरस खाद्य पदार्थ मेरे हैं, ये कोमल-कोमल स्पर्श वाले गद्दे, तोशक आदि पदार्थ मेरे हैं । ये पूर्वोक्त पदार्थ-समूह मेरे कामभोग के साधन हैं, मैं इनका योगक्षेम करने वाला हूँ, अथवा उपभोग करने में समर्थ हूँ ।

वह मेघावी साधक स्वयं पहले से ही यह भलीभाँति जान ले कि ''इस संसार में जब मुझे कोई राग या आतंक उत्पन्न होता है, जो कि मुझे इष्ट नहीं है, कान्त नहीं है, प्रिय नहीं है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, अधिक पीड़ाकारी है, दुःखरूप है, भय का अन्त करने वाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगों ! मेरे इस अनिष्ट, अकान्त, अशुभ, अमनोज्ञ, अतीव दुःखद, दुःखरूप या असुखरूप रोग, आतंक आदि को तुम बाँट कर ले लो; क्योंकि मैं इस पीड़ा, रोग या आतंक से बहुत दुःखी हो रहा हूँ, मैं चिन्ता या शोक से व्याकुल हूँ, इनके कारण मैं बहुत चिन्ताग्रस्त हूँ, मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ, मैं बहुत ही वेदना पा रहा हूँ, या अतिसंतप्त हूँ । अतः तुम सब मुझे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अवमान्य, दुःखरूप या असुखरूप मेरे किसी एक दुःख से या रोगांतक से मुझे मुक्त करा दो । तो वे पदार्थ उक्त प्रार्थना सून कर दुःखादि से मुक्त करा दे, ऐसा कभी नहीं होता ।

इस संसार में वास्तव में, कामभोग दुःख से पीड़ित उस व्यक्ति की रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं होते । इन कामभोगों का उपभोक्ता किसी समय तो पहले से ही स्वयं इन कामभोग पदार्थों को छोड़ देता है, अथवा किसी समय पुरुष को कामभोग पहले ही छोड़ देते हैं । इसलिए ये कामभोग मेरे से भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ । फिर हम क्यों अपने से भिन्न इन कामभोगों में मूर्च्छित-आसक्त हों । इस प्रकार इन सबका ऐसा स्वरूप जानकर हम इन कामभोगों का परित्याग कर देंगे । बुद्धिमान साधक जान ले, ये सब कामभोगादि पदार्थ बहिरंग हैं, मेरी आत्मा से भिन्न हैं । इनसे तो मेरे निकटतर ये ज्ञातिजन हैं–जैसे कि ''यह मेरी माता है, मेरे पिता हैं, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्री है, ये मेरे दास हैं, यह मेरा नाती है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरा मित्र है, ये मेरे पहले और पीछे के स्वजन एवं परिचित सम्बन्धी है । ये मेरे ज्ञातिजन है, और मैं भी इनका आत्मीयजन हूँ ।

बुद्धिमान साधक को स्वयं पहले से ही सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए कि इस लोक में मुझे किसी प्रकार का कोई दुःख या रोग-आतंक पैदा होने पर मैं अपने ज्ञातिजनों से प्रार्थना करूँ कि हे भय का अन्त करने वाले ज्ञातिजनों ! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय यावत् दुःखरूप या असुखरूप दुःख या रोगांतक को आप लोग बराबर बाँट ले, ताकि मैं इस दुःख से दुःखित, चिन्तित यावत् अतिसंतप्त न होऊं । आप सब मुझे इस अनिष्ट यावत् उत्पीड़क दुःख या रोगांतक से मुक्त करा दें । इस पर वे ज्ञातिजन मेरे दुःख और रोगांतक को बाँट कर ले ले, या मुझे इस दुःख या रोगांतक से मुक्त करा दे, ऐसा कदापि नहीं होता । अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन मेरे ज्ञातिजनों को ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाए, जो अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखकर हो, तो मैं उन भयत्राता ज्ञातिजनों के अनिष्ट, यावत् दुःख या रोगांतक को बाँट कर ले लूँ, ताकि वे मेरे ज्ञातिजन दुःख न पाए यावत् वे अतिसंतप्त न हों, तथा मैं उनके किसी अनिष्ट यावत् दुःख या रोगांतक से मुक्त कर दूँ, ऐसा भी कदापि नहीं होता ।

(क्योंकि) दूसरे के दुःख को दूसरा व्यक्ति बाँट कर नहीं ले सकता । दूसरे के द्वारा कृत कर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता । प्रत्येक प्राणी अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही त्याग करता है, अकेला ही उपभोग या स्वीकार करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही झंझा आदि कषायों को ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थों का परिज्ञान करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही मनन-चिन्तन करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही विद्वान होता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दुःख का वेदन करता है । अतः पूर्वोक्त प्रकार से मनुष्य को पहले छोड़ देता है । अतः 'ज्ञातिजनसंयोग मेरे से भिन्न है, मैं भी ज्ञातिजनसंयोग से भिन्न हूँ ।' तब फिर अपने से पृथक् इस ज्ञातिजनसंयोगमें क्यों आसक्त हों? यह भलीभाँति जानकर अब हम ज्ञातिसंयोग का परित्याग कर देंगे ।

परन्तु मेघावी साधक को यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि ज्ञातिजनसंयोग तो बाह्य वस्तु है ही, इनसे भी निकटतर सम्बन्धी ये सब हैं, जिन पर प्राणी ममत्व करता है, जैसे कि–ये मेरे हाथ हैं, ये मेरे पैर हैं, ये मेरी बाँहें हैं, ये मेरी जाँघें हैं, यह मेरा मस्तक है, यह मेरा शील है, इसी तरह मेरी आयु, मेरा बल, मेरा वर्ण, मेरी चमड़ी, मेरी छाया, मेरे कान, मेरे नेत्र, मेरी नासिका, मेरी जिह्वा, मेरी स्पर्शेन्द्रिय, इस प्रकार प्राणी 'मेरा मेरा' करता है । आयु अधिक होने पर ये सब जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं । जैसे कि आयु से, बल से, वर्ण से, त्वचा से, कान से तथा स्पर्शेन्द्रियपर्यन्त सभी शरीर सम्बन्धी पदार्थों से क्षीण–हीन हो जाता है । उसकी सुघटित दृढ़ सन्धियाँ ढीली हो जाती है, उसके शरीर की चमड़ी सिकुड़ कर नसों के जाल से वेष्टित हो जाती है । उसके काले केश सफेद हो जाते हैं, यह जो आहार से उपचित औदारिक शरीर है, वह भी क्रमशः अवधि पूर्ण होने पर छोड़ देना पड़ेगा । यह जान कर भिक्षाचर्या स्वीकार करने हेतु प्रव्रज्या के लिए समुद्यत साधु लोक को दोनों प्रकार से जान ले, जैसे कि–लोक जीवरूप है और अजीवरूप है, तथा त्रसरूप है और स्थावररूप है ।

सूत्र - ६४६

इस लोक में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, कईं श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, वे गृहस्थ तथा श्रमण और ब्राह्मण इन त्रस और स्थावर प्राणियों का स्वयं आरम्भ करते हैं, दूसरे के द्वारा भी आरम्भ कराते हैं और आरम्भ करते हुए अन्य व्यक्ति को अच्छा मानते-अनुमोदन करते हैं । इस जगत में गृहस्थ तथा कईं श्रमण एवं माहन भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं । ये गृहस्थ तथा श्रमण और माहन सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के कामभोगों को स्वयं ग्रहण करते हैं, दूसरे से भी ग्रहण कराते हैं तथा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करते हैं ।

इस जगत में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, कईं श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ परिग्रह से युक्त होते हैं । मैं आरम्भ और परिग्रह से रहित हूँ । जो गृहस्थ हैं, वे आरम्भ और परिग्रह-सहित हैं ही, कोई-कोई श्रमण तथा माहन भी आरम्भ-परिग्रह में लिप्त हैं । अतः आरम्भ-परिग्रह युक्त पूर्वोक्त गृहस्थ वर्ग एवं श्रमण-माहनों के आश्रय से मैं ब्रह्मचर्य का आचरण करूँगा । (प्रश्न–) आरम्भ-परिग्रह-सहित रहने वाले गृहस्थवर्ग और कतिपय श्रमण-ब्राह्मणों के निश्राय में ही जब रहना है, तब फिर इनका त्याग करने का क्या कारण है ? (उत्तर–) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ-परिग्रह-सहित होते हैं, वैसे पीछे भी होते हैं, एवं कोई-कोई श्रमण माहन प्रव्रज्या धारण करने से पूर्व आरम्भ-परिग्रहयुक्त होते हैं, बाद में भी लिप्त रहते हैं । ये लोग सावद्य आरम्भ परिग्रह से निवृत्त नहीं है, अतः शुद्ध संयम का आचरण करने के लिए, शरीर टिकाने के लिए इनका आश्रय लेना अनुचित नहीं है ।

आरम्भ-परिग्रह से युक्त रहने वाले जो गृहस्थ हैं, तथा जो सारम्भ सपरिग्रह श्रमण-माहन हैं, वे इन दोनों प्रकार की क्रियाओं से या राग और द्वेष से अथवा पहले और पीछे या स्वतः और परतः पापकर्म करते रहते हैं । ऐसा जानकर साधु आरम्भ और परिग्रह अथवा राग और द्वेष दोनों के अन्त से इनसे अदृश्यमान हो इस प्रकार संयम में प्रवृत्ति करे । इसलिए मैं कहता हूँ–पूर्व आदि दिशाओं से आया हुआ जो भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित है, वही कर्म के रहस्य को जानता है, इस प्रकार वह कर्म बन्धन से रहित होता है तथा वही कर्मों का अन्त करने वाला होता है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है ।

सूत्र - ६४७

सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर देव ने षट्जीवनिकायों को कर्मबन्ध के हेतु बताए हैं । जैसे कि–पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक । जैसे कोई व्यक्ति मुझे डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले या पथ्थर से, अथवा घड़े के फूटे हुए ठीकरे आदि से मारता है, अथवा चाबुक आदि से पीटता है, अथवा अंगुली दिखाकर धमकाता है, या डाँटता है, अथवा ताड़न करता है, या सताता है, अथवा क्लेश, उद्विग्न, या उपद्रव करता है, या डराता है, तो मुझे दुःख होता है, यहाँ तक कि मेरा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे मारने जैसा दुःख और भय का अनुभव होता है । इसी तरह सभी जीव, सभी भूत, समस्त प्राणी और सर्व सत्व, डंडे, मुक्के, हड्डी, चाबुक यावत् उद्विग्न किये जाने से, यहाँ

तक कि एक रोम मात्र के उखाड़े जाने से वे मृत्यु का-सा कष्ट एवं भय महसूस करते हैं । ऐसा जानकर समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्व कि हिंसा नहीं करनी चाहिए, उन्हें बलात् अपनी आज्ञा का पालन नहीं कराना चाहिए, न उन्हें बलात् पकड़कर या दास-दासी आदि के रूप में खरीद कर रखना चाहिए, न ही किसी प्रकार का संताप देना चाहिए और न उन्हें उद्विग्न करना चाहिए ।

इसलिए मैं कहता हूँ–भूतकाल में जो भी अर्हन्त हो चूके, वर्तमान में जो भी तीर्थंकर हैं, तथा जो भी भविष्य में होंगे; वे सभी अर्हन्त भगवान ऐसा ही उपदेश देते हैं; ऐसा ही कहते हैं, ऐसा ही बताते हैं, और ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं कि–किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, न ही बलात् उनसे आज्ञा पालन कराना चाहिए, न उन्हें बलात् दास-दासी आदि के रूप में पकड़कर या खरीदकर रखना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उन्हें उद्विग्न करना चाहिए । यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है । समस्त लोक को केवल-ज्ञान के प्रकाश में जानकर जीवों के खेद को या क्षेत्र को जानने वाले श्री तीर्थंकरों ने इस धर्म का प्रतिपादन किया है ।

इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यन्त पाँचों आश्रवों से विरत हो, दाँतों को साफ न करे, आँखों में अंजन न लगाए, वमन न करे, तथा अपने वस्त्रों या आवासस्थान को सुगन्धित न करे और धूम्रपान न करे। वह भिक्षु सावद्य क्रियाओं से रहित, जीवों का अहिंसक, क्रोधरहित, निर्मानी, अमायी, निर्लोभी, उपशान्त एवं परिनिर्वृत्त होकर रहे ।

वह अपनी क्रिया से इहलोक-परलोक में काम-भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा न करे, (जैसे कि)–यह जो ज्ञान मैंने जाना-देखा है, सूना है अथवा मनन किया है, एवं विशिष्ट रूप से अभ्यस्त किया है, तथा यह जो मैने तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि चारित्र का सम्यक् आचरण किया है, एवं मोक्षयात्रा का तथा शरीर-निर्वाह के लिए अल्प मात्रा में शुद्ध आहार ग्रहणरूप धर्म का पालन किया है, इन सब सुकार्यों के फलस्वरूप यहाँ से शरीर छोड़ने के पश्चात् परलोक में मैं देव हो जाऊं, समस्त कामभोग मेरे अधीन हो जाएं, मैं अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हो जाऊं, एवं सब दुःखों तथा अशुभकर्मों से रहित हो जाऊं; क्योंकि विशिष्ट तपश्चर्या आदि के होते हुए भी कभी अणिमादि सिद्धि प्राप्त हो जाती है, कभी नहीं भी होती ।

जो भिक्षु मनोज्ञ शब्दों, रूपों, गन्धों, रसों, एवं कोमल स्पर्शों से अमूर्च्छित रहता है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, संयम में अरति, असंयम में रति, मायामृषा एवं मिथ्या-दर्शन रूप शल्य से विरत रहता है; इस कारण से वह भिक्षु महान कर्मों के आदान से रहित हो जाता है, वह सुसंयम में उद्यत हो जाता है, तथा पापों से विरत हो जाता है ।

जो ये त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनका वह भिक्षु स्वयं समारम्भ नहीं करता, न वह दूसरों से समारम्भ कराता है, और न ही समारम्भ करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है । इस कारण से वह साधु महान कर्मों के आदान से मुक्त हो जाता है, शुद्ध संयम में उद्यत रहता है तथा पापकर्मों से निवृत्त हो जाता है । जो ये सचित्त या अचित्त कामभोग हैं, वह भिक्षु स्वयं उनका परिग्रह नहीं करता, न दूसरों से परिग्रह कराता है, और न ही उनका परिग्रह करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करता है । इस कारण से वह भिक्षु महान कर्मों के आदान से मुक्त हो जाता है यावत् पापकर्मों से विरत हो जाता है ।

जो यह साम्परायिक कर्म-बन्ध किया जाता है, उसे भी वह भिक्षु स्वयं नहीं करता, न दूसरों से कराता है, और न ही साम्परायिक कर्म-बन्धन करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है । इस कारण वह भिक्षु महान कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध संयम में रत और पापों से विरत रहता है । यदि वह भिक्षु यह जान जाए कि अमुक श्रावक ने किसी निष्परिग्रह साधर्मिक साधु को दान देने के उद्देश्य से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का आरम्भ करके आहार बनाया है, खरीदा है, उधार लिया है, बलात् छीन कर लिया है, स्वामी से पूछे बिना ही ले लिया है, साधु के सम्मुख लाया हुआ है, साधु के निमित्त से बनाया हुआ है, तो ऐसा सदोष आहार वह न ले । कदाचित् भूल से ऐसा सदोष आहार ले लिया हो तो स्वयं उसका सेवन न करे, दूसरे साधुओं को भी वह आहार न

खिलाए, और न ऐसा सदोष आहार-सेवन करने वाले को अच्छा समझे । इस प्रकार के सदोष आहारत्याग से वह भिक्षु महान कर्मों के बन्धन से दूर रहता है यावत् पापकर्मों से विरत रहता है ।

यदि साधु यह जान जाए कि गृहस्थ ने जिनके लिए आहार बनाया है वे साधु नहीं, अपितु दूसरे हैं; जैसे कि गृहस्थ ने अपने पुत्रों के लिए अथवा पुत्रियों, पुत्रवधूओं के लिए, धाय के लिए, ज्ञातिजनों के लिए, राजन्यों, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरी तथा अतिथि के लिए, या किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिए या रात्रि में खाने के लिए अथवा प्रातः नाश्ते के लिए आहार बनाया है, अथवा इस लोक में जो दूसरे मनुष्य हैं, उनको भोजन देने के लिए उसने आहार का अपने पास संचय किया है; ऐसी स्थिति में साधु दूसरे के द्वारा दूसरों के लिए बनाये हुए तथा उद्गम, उत्पाद और एषणा दोष से रहित शुद्ध एवं अग्नि आदि शस्त्र द्वारा परिणत होने से प्रासुक बने हुए एवं अग्नि आदि शस्त्रों द्वारा निर्जीव किये हुए अहिंसक तथा एषणा से प्राप्त, तथा साधु के वेषमात्र से प्राप्त, सामुदायिक भिक्षा से प्राप्त, गीतार्थ के द्वारा ग्राह्य कारण से साधु के लिए ग्राह्य प्रमाणोपेत, एवं गाड़ी को चलाने के लिए उसकी धूरी में दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये गए लेप के समान केवल संयमयात्रा के निर्वाहार्थ ग्राह्य आहार का बिल में प्रवेश करते हुए साँप के समान स्वाद लिये बिना ही सेवन करे । जैसे कि वह भिक्षु अन्नकाल में अन्न का, पानकाल में पान का, वस्त्रकाल में वस्त्र का, मकान समय में मकान का, शयनकाल में शय्या का ग्रहण एवं सेवन करता है ।

वह भिक्षु मात्रा एवं विधि का ज्ञाता होकर किसी दिशा या अनुदिशा में पहुँचकर, धर्म का व्याख्यान करे, विभाग करके प्रतिपादन करे, धर्म के फल का कीर्तन करे । साधु उपस्थित अथवा अनुपस्थित श्रोताओं को धर्म का प्रतिपादन करे । साधु के लिए विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव तथा समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्व के प्रति अहिंसा आदि धर्मों के अनुरूप विशिष्ट चिन्तन करके धर्मोपदेश दे । धर्मोपदेश करता हुआ साधु अन्न के लिए, पान के लिए, सुन्दर वस्त्र-प्राप्ति के लिए, सुन्दर आवासस्थान के लिए, विशिष्ट शयनीय पदार्थों की प्राप्ति के लिए धर्मोपदेश न करे, तथा दूसरे विविध प्रकार के कामभोगों की प्राप्ति के लिए धर्म कथा न करे । प्रसन्नता से धर्मोपदेश करे । कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य के सिवाय अन्य किसी भी फलाकांक्षा से धर्मोपदेश न करे इस जगत में उस भिक्षु से धर्म को सूनकर, उस पर विचार करके सम्यक् रूप से उत्थित वीर पुरुष ही इस आर्हत धर्म में उपस्थित होते हैं । जो वीर साधक उस भिक्षु से धर्म को सून-समझ कर सम्यक् प्रकार से मुनिधर्म का आचरण करने के लिए उद्यत होते हुए इस धर्म में दीक्षित होते हैं, वे सर्वोपगत हो जाते हैं, वे सर्वोपरत हो जाते हैं, वे सर्वोपशान्त हो जाते हैं, एवं वे समस्त कर्मक्षय करके परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं । यह मैं कहता हूँ । इस प्रकार वह भिक्षु धर्मार्थी धर्म का ज्ञाता और नियाग को प्राप्त होता है ।

ऐसा भिक्षु, जैसा कि पहले कहा गया था, पूर्वोक्त पुरुषों में से पाँचवा पुरुष है । वह श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान निर्वाण को प्राप्त कर सके अथवा उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को (मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान तक ही प्राप्त होने से) प्राप्त न कर सके । इस प्रकार का भिक्षु कर्म का परिज्ञाता, संग का परिज्ञाता, तथा गृहवास का परिज्ञाता हो जाता है । वह उपशान्त, समित, सहित एवं सदैव यतनाशील होता है । उस साधक को इस प्रकार कहा जा सकता है, जैसे कि–वह श्रमण है, या माहन है, अथवा वह क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, तथा महर्षि है, अथवा मुनि, कृती तथा विद्वान है, अथवा भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी चरण-करण के रहस्य का पारगामी है । –ऐसा मैं कहता हूँ।

अध्ययन-१ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-२ – क्रियास्थान

सूत्र - ६४८

हे आयुष्मन् ! मैंने सूना है, उन आयुष्मन् श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा था–निर्ग्रन्थ प्रवचन में 'क्रियास्थान' अध्ययन है, उसका अर्थ यह है–इस लोक में सामान्य रूप से दो स्थान बताये जाते हैं, एक धर्म-स्थान और दूसरा अधर्मस्थान, अथवा एक उपशान्त स्थान और दूसरा अनुपशान्त स्थान ।

इन दोनों स्थानों में से प्रथम अधर्मपक्ष का जो विभंग है उसका अर्थ इस प्रकार है–'इस लोक में पूर्व आदि छहों दिशाओं में अनेकविध मनुष्य रहते हैं, जैसे कि कईं आर्य होते हैं, कईं अनार्य, अथवा कईं उच्चगोत्रीय होते हैं, कईं नीचगोत्रीय अथवा कईं लम्बे कद के और कईं ठिगने (छोटे) कद के या कोई उत्कृष्ट वर्ण के और कईं निकृष्ट वर्ण के अथवा कईं सुरूप और कईं कुरूप होते हैं । उन आर्य आदि मनुष्यों में यह दण्ड का समादान देखा जाता है, जैसे कि–नारकों में, तिर्यंचों में, मनुष्यों में और देवों में, अथवा जो इसी प्रकार के विज्ञ प्राणी हैं, वे सुख-दुःख का वेदन करते हैं, उनमें अवश्य ही ये तेरह प्रकार के क्रियास्थान होते हैं, ऐसा कहा है । अर्थदण्ड, अनर्थदण्ड, हिंसा-दण्ड, अकस्मात् दण्ड, दृष्टिविपर्यासदण्ड, मृषाप्रत्ययिक, अदत्तादानप्रत्ययिक, अध्यात्मप्रत्ययिक, मानप्रत्ययिक, मित्रद्वेषप्रत्ययिक, मायाप्रत्ययिक, लोभप्रत्ययिक और ईर्य्याप्रत्ययिक ।

सूत्र - ६४९

प्रथम दण्डसमादान अर्थात् क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है । जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, अपने ज्ञातिजनों के लिए, अपने घर या परिवार के लिए, मित्रजनों के लिए अथवा नाग, भूत और यक्ष आदि के लिए स्वयं त्रस और स्थावर जीवों को दण्ड देता है; अथवा दूसरे से दण्ड दिलवाता है; अथवा दूसरा दण्ड दे रहा हो, उसका अनुमोदन करता है । ऐसी स्थिति में उसे उस सावद्यक्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५०

इसके पश्चात् दूसरा दण्डसमादानरूप क्रियास्थान अनर्थदण्ड प्रत्ययिक कहलाता है । जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है, जो इन त्रसप्राणियों को न तो अपने शरीर की अर्चा के लिए मारता है, न चमड़े के लिए, न ही माँस के लिए और न रक्त के लिए मारता है । एवं हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्बी के लिए, पिच्छ पूंछ, बाल, सींग, विषाण, दाँत, दाढ़, नख, नाड़ी, हड्डी और हड्डी की मज्जा के लिए नहीं मारता । तथा इसने मुझे या मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, अथवा मार रहा है या मारेगा इसलिए नहीं मारता एवं पुत्रपोषण, पशुपोषण तथा अपने घर की मरम्मत एवं हिफाजत के लिए भी नहीं मारता, तथा श्रमण और माहन के जीवन निर्वाह के लिए, एवं उनके या अपने शरीर या प्राणों पर किञ्चित उपद्रव न हो, अतः परित्राणहेतु भी नहीं मारता, अपितु निष्प्रयोजन ही वह मूर्ख प्राणियों को दण्ड देता हुआ उन्हें मारता है, छेदन करता है, भेदन करता है, अंगों को अलग-अलग करता है, आँखें नीकालता है, चमड़ी उधेड़ता है, डराता-धमकाता है, अथवा परमाधार्मिकवत् पीड़ा पहुँचाता है, तथा प्राणों से रहित भी कर देता है । वह सद्विवेक का त्याग करके या अपना आपा खोकर तथा निष्प्रयोजन त्रस प्राणियों को उत्पीड़ित करने वाला वह मूढ़ प्राणियों के साथ वैर का भागी बन जाता है ।

कोई पुरुष ये जो स्थावर प्राणी हैं, जैसे कि इक्कड़, कठिन, जन्तुक, परक, मयूरक, मुस्ता, तृण, कुश, कुच्छक, पर्वक और पलाल नामक विविध वनस्पतियाँ होती हैं, उन्हें निरर्थक दण्ड देता है । वह इन वनस्पतियों को पुत्रादि के या पशुओं के पोषणार्थ, या गृहरक्षार्थ, अथवा श्रमण एवं माहन के पोषणार्थ दण्ड नहीं देता, न ही ये वनस्पतियाँ उसके शरीर की रक्षा के लिए कुछ काम आती हैं, तथापि वह अज्ञ निरर्थक ही उनका हनन, छेदन, भेदन, खण्डन, मर्दन, उत्पीड़न करता है, उन्हें भय उत्पन्न करता है, या जीवन से रहित कर देता है । विवेक को तिलांजली देकर वह मूढ़ व्यर्थ ही प्राणियों को दण्ड देता है और उन प्राणियों के साथ वैर का भागी बन जाता है ।

जैसे कोई पुरुष नदी के कच्छ पर, द्रह पर, या किसी जलाशय में, अथवा तृणराशि पर, तथा नदि आदि द्वारा घिरे हुए स्थान में, अन्धकारपूर्ण स्थान में अथवा किसी गहन में, वन में या घोर वन में, पर्वत पर या पर्वत के

किसी दुर्गम स्थान में तृण या घास को बिछा-बिछा कर अथवा ऊंचा ढेर करके, स्वयं उसमें आग लगाता है, अथवा दूसरे से आग लगवाता है, अथवा इन स्थानों पर आग लगाते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, वह पुरुष निष्प्रयोजन प्राणियों को दण्ड देता है । इस प्रकार उस पुरुष को व्यर्थ ही प्राणियों के घात के कारण सावद्य कर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५१

इसके पश्चात् तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहलाता है । जैसे कि–कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणियों को इसलिए स्वयं दण्ड देता है कि इस जीव ने मुझे या मेरे सम्बन्धी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था, मार रहा है या मारेगा अथवा वह दूसरे से त्रस और स्थावर प्राणी को वह दण्ड दिलाता है, या त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड देते हुए दूसरे पुरुष का अनुमोदन करता है । ऐसा व्यक्ति प्राणियों को हिंसारूप दण्ड देता है। उस व्यक्ति को हिंसाप्रत्ययिक सावद्यकर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५२

इसके बाद चौथा क्रियास्थान अकस्माद् दण्डप्रत्ययिक है । जैसे कि कोई व्यक्ति नदी के तट पर अथवा द्रह पर यावत् किसी घोर दुर्गम जंगल में जाकर मृग को मारने की प्रवृत्ति करता है, मृग को मारने का संकल्प करता है, मृग का ही ध्यान रखता है, मृग का वध करने के लिए जल पड़ता है; 'यह मृग है' यों जानकर किसी एक मृग को मारने के लिए वह अपने धनुष पर बाण को खींच कर चलाता है, किन्तु उस मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका बाण लक्ष्य को न लग कर तीतर, बटेर, चिड़ियाँ, लावक, कबूतर, बन्दर या कपिंजल पक्षी को लगकर उन्हें बींध डालता है । ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति दूसरे के लिए प्रयुक्त दण्ड से दूसरे का घात करता है, वह दण्ड ईच्छा न होने पर भी अकस्मात हो जाता है इसलिए इसे अकस्माद्दण्ड क्रियास्थान कहते हैं ।

जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक और राल नामक धान्यों को शोधन करता हुआ किसी तृण को काटने के लिए शस्त्र चलाए, और 'मैं श्यामाक, तृण और कुमुद आदि घास को काटू' ऐसा आशय होने पर भी शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक और राल के पौधों का ही छेदन कर बैठता है । इस प्रकार अन्य वस्तु को लक्ष्य करके किया हुआ दण्ड अन्य को स्पर्श करता है । यह दण्ड भी घातक पुरुष का अभिप्राय न होने पर भी अचानक हो जाने के कारण अकस्माद्दण्ड कहलाता है । इस प्रकार अकस्मात् दण्ड देने के कारण उस घातक पुरुष को सावद्यकर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५३

इसके पश्चात् पाँचवा क्रियास्थान दृष्टिविपर्यास दण्डप्रत्ययिक है । जैसे कोई व्यक्ति अपने माता, पिता, भाइयों, बहनों, स्त्री, पुत्रों, पुत्रियों या पुत्रवधूओं के साथ निवास करता हुआ अपने उस मित्र को शत्रु समझकर मार देता है, इसको दृष्टिविपर्यासदण्ड कहते हैं, क्योंकि यह दण्ड दृष्टिभ्रमवश होता है । जैसे कोई पुरुष ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मण्डप, द्रोण-मुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी पर घात के समय किसी चोर से भिन्न को चोर समझकर मार डाले तो वह दृष्टिविपर्यासदण्ड कहलाता है ।

इस प्रकार जो पुरुष अहितैषी या दण्ड्य के भ्रम से हितैषी जन या अदण्ड्य प्राणी को दण्ड दे बैठता है, उसे उक्त दृष्टिविपर्यास के कारण सावद्यकर्मबन्ध होता है ।

सूत्र - ६५४

इसके पश्चात् छठे क्रियास्थान मृषाप्रत्ययिक हैं । जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, ज्ञातिवर्ग के लिए घर के लिए अथवा परिवार के लिए स्वयं असत्य बोलता है, दूसरे से असत्य बुलवाता है, तथा असत्य बोलते हुए का अनुमोदन करता है; ऐसा करने के कारण उस व्यक्ति को असत्य प्रवृत्ति-निमित्तक पापकर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५५

इसके पश्चात् सातवा क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक है । जैसे कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी ज्ञाति के लिए

तथा अपने परिवार के लिए अदत्त–स्वयं ग्रहण करता है, दूसरे को ग्रहण कराता है और अदत्त ग्रहण करते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, तो ऐसा करने वाला उसको अदत्तादान-सम्बन्धित सावद्य कर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५६

इसके बाद आठवा अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान है । जैसे कोई ऐसा पुरुष है, किसी विसंवाद के कारण, दुःख उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नहीं है फिर भी वह स्वयमेव हीन भावनाग्रस्त, दीन, दुश्चिन्त दुर्मनस्क, उदास होकर मन में अस्वस्थ संकल्प करता रहता है, चिन्ता और शोक के सागर में डूबा रहता है, एवं हथेली पर मुँह रख कर पृथ्वी पर दृष्टि किये हुए आर्तध्यान करता रहता है । निःसन्देह उसके हृदय में संचित चार कारण हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ । वस्तुतः क्रोध, मान, माया और लोभ आध्यात्मिक भाव हैं । उस प्रकार अध्यात्मभाव के कारण सावद्यकर्म का बन्ध होता है ।

सूत्र - ६५७

इसके पश्चात् नौवा क्रियास्थान मानप्रत्ययिक है । जैसे कोई व्यक्ति जातिमद, कुलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुत मद, लाभमद, ऐश्वर्यमद एवं प्रज्ञापद, इन में से किसी एक मद-स्थान से मत्त हो कर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना करता है, निन्दा करता है, उसे झिड़कता है, या धृणा करता है, गर्हा करता है, दूसरे को नीचा दिखाता है, उसका अपमान करता है । यह व्यक्ति हीन हैं, मैं विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणों से सम्पन्न हूँ, इस प्रकार अपने आपको उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है । इस प्रकार जाति आदि मदों से उन्मत्त पुरुष आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को छोड़कर कर्ममात्र को साथ लेकर विवशतापूर्वक परलोक प्रयाण करता है । वहाँ वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को और एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करता है । परलोक में वह चण्ड, नम्रतारहित चपल और अतिमानी होता है ।

इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त अभिमान की क्रिया के कारण सावद्यकर्मबन्ध करता है ।

सूत्र - ६५८

इसके बाद दसवाँ क्रियास्थान मित्रदोष प्रत्ययिक है । जैसे–कोई पुरुष माता, पिता, भाइयों, बहनों, पत्नी, कन्याओं, पुत्रों अथवा पुत्रवधूओं के साथ निवास करता हुआ, इनसे कोई छोटा-सा भी अपराध हो जाने पर स्वयं भारी दण्ड देता है, उदाहरणार्थ-सर्दी के दिनों में अत्यन्त ठंडे पानी में उन्हें डूबोता है; गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर अत्यन्त गर्म पानी छींटता है, आग से उनके शरीर को जला देता है या गर्म दाग देता है, तथा जोत्र से, बेंत से छड़ी से, चमड़े से, लता से या चाबुक से अथवा किसी प्रकार की रस्सी से प्रहार करके उसके बगल की चमड़ी उधेड़ देता है, तथैव डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले से, ठीकरे या खप्पर से मार-मार कर उसके शरीर को ढीला कर देता है । ऐसे पुरुष के घर पर रहने से उसके सहवासी परिवारिकजन दुःखी रहते हैं, ऐसे पुरुष के परदेश प्रवास करने से वे सुखी रहते हैं । इस प्रकार का व्यक्ति जो डंडा बगल में दबाए रखता है, जरा से अपराध पर भारी दण्ड देता है, हर बात में दण्ड को आगे रखता है, वह इस लोक में तो अपना अहित करता ही है परलोक में भी अपना अहित करता है । वह प्रतिक्षण ईर्ष्या से जलता रहता है, बात-बात में क्रोध करता है, दूसरों की पीठ पीछे निन्दा करता है, या चुगली खाता है ।

इस प्रकार के व्यक्ति को हितैषी व्यक्तियोंको महादण्ड देने की क्रिया निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है।

सूत्र - ६५९

ग्यारहवाँ क्रियास्थान है, मायाप्रत्ययिक है । ऐसे व्यक्ति, जो किसी को पता न चल सके, ऐसे गूढ़ आचार वाले होते हैं, लोगों को अंधेरे में रखकर कायचेष्टा या क्रिया करते हैं, तथा उल्लू के पंख के समान हलके होते हुए भी अपने आपको पर्वत के समान बड़ा भारी समझते हैं, वे आर्य्य होते हुए भी अनार्यभाषाओं का प्रयोग करते हैं, वे अन्य रूप में होते हुए भी स्वयं को अन्यथा मानते हैं; वे दूसरी बात पूछने पर दूसरी बात का व्याख्यान करने लगते हैं, दूसरी बात कहने के स्थान पर दूसरी बात का वर्णन करने पर उतर जाते हैं । (उदाहरणार्थ–) जैसे किसी

पुरुष के अन्तर में शल्य गड़ गया हो, वह उस शल्य को स्वयं नहीं नीकालता न किसी दूसरे से नीकलवाता है, और न उस शल्य को नष्ट करवाता है, प्रत्युत निष्प्रयोजन ही उसे छिपाता है, तथा उसकी वेदना से अंदर ही अंदर पीड़ित होता हुआ उसे सहता रहता है, इसी प्रकार मायी व्यक्ति भी माया करके उस मायाशल्य को निन्दा के भय से स्वयं आलोचना नहीं करता, न उसका अतिक्रमण करता है, न निन्दा करता है, न गर्हा करता है, न वह उसको प्रायश्चित्त आदि उपायों से तोड़ता है, और न उसकी शुद्धि करता है, उसे पुनः पुनः न करने के लिए भी उद्यत नहीं होता, तथा उस पापकर्म के अनुरूप यथायोग्य तपश्चरण के रूप में प्रायश्चित्त भी स्वीकार नहीं करता ।

इस प्रकार मायी इस लोक में प्रख्यात हो जाता है, अविश्वसनीय हो जाता है; परलोक में भी पुनः पुनः जन्म-मरण करता रहता है । वह दूसरे की निन्दा करता है, दूसरे से धृणा करता है, अपनी प्रशंसा करता है, निश्चिन्त होकर बूरे कार्यों में प्रवृत्त होता है, असत् कार्यों से निवृत्त नहीं होता, प्राणियों को दण्ड दे कर भी उसे स्वीकारता नहीं, छिपाता है । ऐसा मायावी शुभ लेश्याओं को अंगीकार भी नहीं करता । ऐसा मायी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार की माया युक्त क्रियाओं के कारण पापकर्म का बन्ध करता है ।

सूत्र - ६६०

इसके पश्चात् बारहवा क्रियास्थान लोभप्रत्ययिक है । वह इस प्रकार है–ये जो वन में निवास करने वाले हैं, जो कुटी बनाकर रहते हैं, जो ग्राम के निकट डेरा डाल कर रहते हैं, कईं एकान्त में निवास करते हैं, अथवा कोई रहस्यमयी गुप्त क्रिया करते हैं । ये आरण्यक आदि न तो सर्वथा संयत हैं और न ही विरत हैं, वे समस्त प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की हिंसा से स्वयं विरत नहीं हैं । वे स्वयं कुछ सत्य और कुछ मिथ्या वाक्यों का प्रयोग करते हैं, जैसे कि–मैं मारे जाने योग्य नहीं हूँ, अन्य लोग मारे जाने योग्य हैं, मैं आज्ञा देने योग्य नहीं हूँ, किन्तु दूसरे आज्ञा देने योग्य हैं, मैं परिग्रहण या निग्रह करने योग्य नहीं हूँ, दूसरे परिग्रह या निग्रह करने योग्य हैं, मैं संताप देने योग्य नहीं हूँ, किन्तु अन्य जीव संताप देने योग्य हैं, मैं उद्विग्न करने या जीवरहित करने योग्य नहीं हूँ, दूसरे प्राणी उद्विग्न, भयभीत या जीवरहित करने योग्य हैं । इस प्रकार परमार्थ से अनभिज्ञ वे अन्यतीर्थिक स्त्रियों और शब्दादि कामभोगों में आसक्त, गृद्ध सतत विषयभोगों में ग्रस्त, गर्हित एवं लीन रहते हैं ।

वे चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक कामभोगों का उपभोग करके मृत्यु के समय मृत्यु पा कर असुरलोक में किल्बिषी असुर के रूप में उत्पन्न होते हैं । उस आसुरी योनि से विमुक्त होने पर बकरे की तरह मूक, जन्मान्ध एवं जन्म से मूक होते हैं । इस प्रकार विषय-लोलुपता की क्रिया के कारण लोभप्रत्ययिक पापकर्म का बन्ध होता है । इन पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों को मुक्तिगमन योग्य श्रमण या माहन को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए, और त्याग करना चाहिए ।

सूत्र - ६६१

पश्चात् तेरहवा क्रियास्थान ऐर्यापथिक है । इस जगत में या आर्हतप्रवचन में जो व्यक्ति अपने आत्मार्थ के लिए उपस्थित एवं समस्त परभावों या पापों से संवृत्त है तथा घरबार आदि छोड़कर अनगार हो गया है, जो ईर्या-समिति से युक्त है, जो भाषासमिति से युक्त है, जो एषणासमिति का पालन करता है, जो पात्र, उपकरण आदि के ग्रहण करने और रखने की समिति से युक्त है, जो लघु नीति, बड़ी नीति, थूक, कफ, नाक के मैल आदि के परिष्ठापन की समिति से युक्त है, जो मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति से युक्त है, जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं, जिसका ब्रह्मचर्य नौ गुप्तियों से गुप्त है, जो साधक उपयोग सहित गमन करता है, उपयोगपूर्वक खड़ा होता है, बैठता है, करवट बदलता है, भोजन करता है, बोलता है, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि को ग्रहण करता है और उपयोगपूर्वक ही इन्हें रखता-उठाता है, यहाँ तक कि आँखों की पलकें भी उपयोगसहित झपकाता है ।

ऐसे साधु में विविध मात्रा वाली सूक्ष्म ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जिसे वह करता है । उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श होता है, द्वितीय समय में उसका वेदन होता है, तृतीय समय में उसकी

निर्जरा होती है । इस प्रकार वह ईर्यापथिकी क्रिया क्रमशः बद्ध, स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीण होती है । फिर आगामी समय में वह अकर्मता को प्राप्त होती है ।

इस प्रकार वीतराग पुरुष के पूर्वोक्त ईर्यापथिक क्रिया के कारण असावद्य कर्म का बन्ध होता है । इसीलिए इस तेरहवे क्रियास्थान को ऐर्यापथिक कहा गया है । मैं कहता हूँ कि भूतकाल में जितने तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान काल में जितने तीर्थंकर हैं, और भविष्य में जितने भी तीर्थंकर होंगे, उन सभी ने इन तेरह क्रियास्थानों का कथन किया है, करते हैं तथा करेंगे, इसी प्रकार भूतकालीन तीर्थंकरों ने इन्हीं क्रियास्थानों की प्ररूपणा की है, वर्तमान तीर्थंकर करते हैं तथा भविष्यकालिक तीर्थंकर इन्हीं की प्ररूपणा करेंगे । इसी प्रकार प्राचीन तीर्थंकरों ने इसी तेरहवे क्रियास्थान का सेवन किया है, वर्तमान तीर्थंकर भी इसी का सेवन करते हैं और भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी इसी का सेवन करेंगे ।

सूत्र - ६६२

इसके पश्चात् पुरुषविजय अथवा पुरुषविचय के विभंग का प्रतिपादन करूँगा । इस मनुष्यक्षेत्र में या प्रवचन में नाना प्रकार की प्रज्ञा, नाना अभिप्राय, नाना प्रकार के शील, विविध दृष्टियों, अनेक रुचियों, नाना प्रकार के आरम्भ तथा नाना प्रकार के अध्यवसायों से युक्त मनुष्यों द्वारा अनेकविध पापशास्त्रों का अध्ययन किया जाता है । वे इस प्रकार हैं–भौम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरिक्ष, अंग, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन, स्त्रीलक्षण, पुरुषलक्षण, हयलक्षण, गजलक्षण, गोलक्षण, मेषलक्षण, कुक्कुटलक्षण, तित्तिरलक्षण, वर्तकलक्षण, लावकलक्षण, चक्रलक्षण, छत्रलक्षण, चर्मलक्षण, दण्डलक्षण, असिलक्षण, मणिलक्षण, काकिनीलक्षण, सुभगाकर, दुर्भगाकर, गर्भकरी, मोहनकरी, आथर्वणी, पाकशासन, द्रव्यहोम, क्षत्रियविद्या, चन्द्रचरित, सूर्यचरित, शुक्रचरित, बृहस्पतिचरित, उल्कापात, दिग्दाह, मृगचक्र, वायंसपरिमण्डल, पासुवृष्टि, केशवृष्टि, मांसवृष्टि, रुधिरवृष्टि, वैताली, अर्द्धवैताली, अवस्वापिनी, तालोद्घाटिनी, श्वपाकी, शाबरीविद्या, द्राविड़ी विद्या, कालिंगी विद्या, गौरीविद्या, गान्धारी विद्या, अवपतनी, उत्पतनी, जृम्भणी, स्तम्भनी, श्लेषणी, आमयकरणी, विशल्यकरणी, प्रक्रमणी, अन्तर्धानी और आयामिनी इत्यादि अनेक विद्याओं का प्रयोग वे भोजन और पेय पदार्थों के लिए, वस्त्र के लिए, आवास-स्थान के लिए, शय्या की प्राप्ति के लिए तथा अन्य नाना प्रकार के कामभोगों की प्राप्ति के लिए करते हैं । वे इन प्रतिकूल वक्र विद्याओं का सेवन करते हैं । वस्तुतः वे विप्रतिपन्न एवं अनार्य ही हैं ।

वे मृत्यु का समय आने पर मरकर आसुरिक किल्बिषिक स्थान में उत्पन्न होते हैं । वहाँ से आयु पूर्ण होते ही देह छूटने पर वे पुनः पुनः ऐसी योनियों में जाते हैं जहाँ वे बकरे की तरह मूक, या जन्म से अंधे, या जन्म से ही गूँगे होते हैं ।

सूत्र - ६६३

कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने ज्ञातिजनों के लिए अथवा कोई अपना घर बनाने के लिए या अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथवा अपने नायक या परिचित जन तथा सहवासी के लिए निम्नोक्त पापकर्म का आचरण करने वाले बनते हैं–अनुगामिक बनकर, उपचरक बनकर, प्रातिपथिक बनकर, सन्धिच्छेदक बनकर, ग्रन्थिच्छेदक बनकर, औरभ्रिक बनकर, शौकरिक बनकर, वागुरिक बनकर, शाकुनिक बनकर, मात्स्यिक बनकर, गोपालक बनकर, गोघातक बनकर, श्वपालक बनकर या शौवान्तिक बनकर ।

(१) कोई पापी पुरुष उसका पीछा करने की नीयत से साथ में चलने की अनुकूलता समझाकर उसके पीछे -पीछे चलता है और अवसर पाकर उसे मारता है, हाथ-पैर आदि अंग काट देता है, अंग चूर चूर कर देता है, विडम्बना करता है, पीड़ित कर या डरा-धमका कर अथवा उसे जीवन से रहित करके (उसका धन लूट कर) अपना आहार उपार्जन करता है । इस प्रकार वह महान (क्रूर) पापकर्मों के कारण (महापापी के नाम से) अपने आपको जगत में प्रख्यात कर देता है ।

(२) कोई पापी पुरुष किसी धनवान की अनुचरवृत्ति, सेवकवृत्ति स्वीकार करके उसी को मार-पीट कर,

उसका छेदन, भेदन एवं प्रहार करके, उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धन हरण कर अपना आहार उपार्जन करता है । इस प्रकार वह महापापी व्यक्ति बड़े-बड़े पापकर्म करके महापापी के रूप में अपने आपको प्रख्यात कर लेता है ।

(३) कोई पापी जीव किसी धनिक पथिक को सामने से आते देख उसी पथ पर मिलता है, तथा प्राति-पथिक भाव धारण करके पथिका का मार्ग रोककर उसे मारपीट करके यावत उसका धन लूटकर अपना आहार-उपार्जन करता है । इस प्रकार महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है ।

(४) कोई पापी जीव सेंध डालकर उस धनिक के परिवार को मार-पीट कर, यावत् उसके धन को चूरा कर अपनी जीविका चलाता है । इस प्रकार वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है ।

(५) कोई पापी व्यक्ति धनाढ्यों के धन की गाँठ काटने का धंधा अपनाकर धनिकों की गाँठ काटता रहता है । वह मारता-पीटता है यावत् उसका धन हरण कर लेता है, और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करता है । इस प्रकार स्वयं को महापापी के रूप में विख्यात कर लेता है ।

(६) कोई पापात्मा भेड़ों का चरवाहा बनकर भेड़ों में से किसी को या अन्य किसी भी त्रस प्राणी को मार-पीट कर यावत् अपनी आजीविका चलाता है । इस प्रकार स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है ।

(७) कोई पापकर्मा जीव सूअरों को पालने का या कसाई का धंधा अपना कर भैंसे, सूअर या दूसरे त्रस प्राणी को मार-पीट कर, यावत् अपनी आजीविका का निर्वाह करता है । इस प्रकार का महान पाप-कर्म करने के कारण संसार में वह अपने आपको महापापी के नाम से विख्यात कर लेता है ।

(८) कोई पापी जीव शिकारी का धंधा अपनाकर मृग या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, यावत् अपनी आजीविका उपार्जन करता है । इस प्रकार स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है ।

(९) कोई पापात्मा बहेलिया बनकर पक्षियों को जाल में फँसाकर पकड़ने का धंधा स्वीकार करके पक्षी या अन्य किसी त्रस प्राणी को मारकर यावत् अपनी आजीविका कमाता है । वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रख्यात कर लेता है ।

(१०) कोई पापकर्मजीवी मछुआ बनकर मछलियों को जाल में फँसा कर पकड़ने का धंधा अपनाकर मछली या अन्य त्रस जलजन्तुओं का हनन करके यावत् अपनी आजीविका चलाता है । अतः स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है ।

(११) कोई पापात्मा गोवंशघातक का धंधा अपना कर गाय, बैल या अन्य किसी भी त्रस प्राणी का हनन, छेदन करके यावत् अपनी जीविका कमाता है । अपने को महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर लेता है ।

(१२) कोई व्यक्ति गोपालन का धंधा स्वीकार करके उन्हीं गायों या उनके बछड़ों को टोले से पृथक् निकाल-निकाल कर बार-बार उन्हें मारता-पीटता तथा भूखे रखता है यावत् अपनी रोजी-रोटी कमाता है । स्वयं महापापियों की सूची में प्रसिद्धि पा लेता है ।

(१३) कोई अत्यन्त नीचकर्म कर्ता व्यक्ति कुत्तों को पकड़कर पालने का धंधा अपना कर उनमें से किसी कुत्ते को या अन्य किसी त्रस प्राणी को मरकर यावत् अपनी आजीविका कमाता है । स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है ।

(१४) कोई पापात्मा शिकारी कुत्तों को रखकर श्वपाक वृत्ति अपना कर ग्राम आदि के अन्तिम सिरे पर रहता है और पास से गुजरने वाले मनुष्य या प्राणी पर शिकारी कुत्ते छोड़ कर उन्हें कटवाता है, फड़वाता है, यहाँ त तक कि जान से मरवाता है । वह इस प्रकार का भयंकर पापकर्म करने के कारण महापापी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है ।

सूत्र - ६६४

(१) कोई व्यक्ति सभा में खड़ा होकर प्रतिज्ञा करता है–मैं इस प्राणी को मारूँगा ।' तत्पश्चात् वह तीतर,

बतख, लावक, कबूतर, कपिंजल या अन्य किसी त्रसजीव को मारता है, छेदन-भेदन करता है, यहाँ तक कि उसे प्राणरहित कर डालता है । अपने इस महान पापकर्म के कारण वह स्वयं को महापापी नाम से प्रख्यात कर देता है

(२) कोई पुरुष किसी कारण से अथवा सड़े गले, या थोड़ा-सा हलकी किस्म का अन्न आदि दे देने से अथवा किसी दूसरे पदार्थ से अभीष्ट लाभ न होने से विरुद्ध होकर उस गृहपति या गृहपति के पुत्रों के खलिहान में रखे शाली, व्रीहि, जौ, गेहूँ आदि धान्यों को स्वयं आग लगाकर जला देता अथवा दूसरे से आग लगवा कर जला देता है, उन के धान्य को जलाने वाले अच्छा समझता है । इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत में वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है ।

(३) कोई पुरुष अपमानादि प्रतिकूल शब्दादि किसी कारण से, अथवा सड़े गले या तुच्छ या अल्प अन्नादि के देने से या किसी दूसरे पदार्थ से अभीष्ट लाभ न होने से उस गृहस्थ या उसके पुत्रों पर कुपित होकर उनके ऊंटों, गायों-बैलों, घोड़ों, गधों के जंघा आदि अंगों को स्वयं काट देता है, दूसरों से उनके अंग कटवा देता है, जो उन गृहस्थादि के पशुओं के अंग काटता है, उसे अच्छा समझता है । इस महान पापकर्म के कारण वह जगत में अपने आपको महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर देता है ।

(४) कोई पुरुष किसी अपमानादिजनक शब्दादि के कारण से, अथवा किसी गृहपति द्वारा खराब या कम अन्न दिये जाने अथवा उससे अपना इष्ट स्वार्थ-सिद्ध न होने से उस पर अत्यंत बिगड़कर उस गृहस्थ की अथवा उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला अथवा गर्दभशाला काँटों की शाखाओं से ढंक कर स्वयं उसमें आग लगा कर जला देता है, दूसरों से लगवा देता है या जो उनमें आग लगवा कर जला देने वाले को अच्छा समझता है इस महापाप से स्वयं को महापापी के नाम से विख्यात कर देता है ।

(५) कोई व्यक्ति किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण, अथवा गृहपति द्वारा खराब, तुच्छ या अल्प अन्न आदि दिये जाने से अथवा उससे अपने किसी मनोरथ की सिद्धि न होने से इस पर क्रुद्ध होकर उससे या उसके पुत्रों के कुण्डल, मणि या मोती को स्वयं हरण करता है, दूसरों से हरण कराता है, या हरण करने वाले को अच्छा जानता है । इस महापाप के कारण जगत में महापापी के रूप में स्वयं को प्रसिद्ध कर देता है ।

(६) कोई पुरुष श्रमणों या माहनों के किसी भक्त से सड़ा-गला, तुच्छ या घटिया या थोड़ा सा अन्न पाकर अथवा मद्य की हंडियाँ न मिलने से या किसी अभीष्ट स्वार्थ सिद्ध न होने से अथवा किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण उन श्रमणों या माहनों के विरुद्ध होकर उनका छत्र, दण्ड, उपकरण, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा, चर्म, चर्म-छेदनक या चर्मकोश स्वयं हरण करता है, दूसरे से हरण कराता है, अथवा हरण करने वाले को अच्छा जानता है । इस महापाप के कारण स्वयं को महापापी प्रसिद्ध कर देता है ।

(७) कोई-कोई व्यक्ति तो जरा भी विचार नहीं करता, जैसे कि वह अकारण ही गृहपति या उनके पुत्रों के अन्न आदि को स्वयमेव आग लगाकर भस्म कर देता है, अथवा वह दूसरे से भस्म करा देता है, या जो भस्म करता है उसे अच्छा समझता है । इस महापापकर्म करने के कारण जगत में वह महापापी के रूप में बदनाम होता है ।

(८) कोई-कोई व्यक्ति अपने कृत दुष्कर्मों के फल का किंचित् भी विचार नहीं करता, जैसे कि–वह अकारण ही किसी गृहस्थ या उसके पुत्रों के ऊंट, गाय, घोड़ों या गधों के जंघादि अंग स्वयं काट डालता है, या दूसरे से कटवाता है, अथवा जो उनके अंग काटता है उसकी प्रशंसा एवं अनुमोदना करता है । अपनी इस पापवृत्ति के कारण वह महापापी के नाम से जगत में पहचाना जाता है ।

(९) कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो स्वकृतकर्मों के परिणाम का थोड़ा-सा विचार नहीं करता, जैसे कि वह किसी गृहस्थ या उनके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, घुड़साल या गर्दभशाला को सहसा कंटीली झाड़ियों या ड़ालियों से ढंक कर स्वयं आग लगाकर उन्हें भस्म कर डालता है, अथवा दूसरे को प्रेरित करके भस्म करवा डालता है, या जो उनकी उक्त शालाओं को इस प्रकार आग लगाकर भस्म करता है, उसको अच्छा समझता है ।

(१०) कोई व्यक्ति पापकर्म करता हुआ उसके फल का विचार नहीं करता । वह अकारण ही गृहपति या

गृहपतिपुत्रों के कुण्डल, मणि, या मोती आदि को स्वयं चूरा लेता है, या दूसरों से चोरी करवाता है, अथवा जो चोरी करता है उसे अच्छा समझता है ।

(११) कोई व्यक्ति स्वकृत दुष्कर्मों के फल का जरा भी विचार नहीं करता । वह अकारण ही श्रमणों या माहनों के छत्र, दण्ड, कमण्डलु, भण्डोपकरणों से लेकर चर्मछेदनक एवं चर्मकोश तक साधनों का स्वयं अपहरण कर लेता है, औरों से अपहरण करवाता है और जो अपहरण करता है, उसे अच्छा समझता है । इस कारण जगत में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है ।

(१२) ऐसा कोई व्यक्ति श्रमण और माहन को देखकर उनके साथ अनेक प्रकार के पापमय व्यवहार करता है और उस महान पापकर्म के कारण उसकी प्रसिद्धि महापापी के रूप में हो जाती है । अथवा वह चुटकी बजाता है अथवा कठोर वचन बोलता है । भिक्षाकाल में भी अगर साधु उसके यहाँ दूसरे भिक्षुओं के पीछे भिक्षा के लिए प्रवेश करता है, तो भी वह साधु को स्वयं आहारादि नहीं देता, दूसरा कोई देता हो तो उसे यह कहकर भिक्षा देने से रोक देता है–ये पाखण्डी बोझा ढोते थे या नीच कर्म करते थे, कुटुम्ब के या बोझे के भार से (घबराए हुए) थे । वे बड़े आलसी हैं, ये शूद्र हैं, दरिद्र हैं, (सुखलिप्सा से) ये श्रमण एवं प्रव्रजित हो गए हैं ।

वे लोग इस जीवन को जो वस्तुतः धिग्जीवन है, उलटे इसकी प्रशंसा करते हैं । वे साधुद्रोहजीवी मूढ़ परलोक के लिए भी कुछ भी साधन नहीं करते; वे दुःख पाते हैं, वे शोक पाते हैं, वे दुःख, शोक, पश्चात्ताप करते हैं, वे क्लेश पाते हैं, वे पीड़ावश छाती-माथा कूटते हैं, सन्ताप पाते हैं, वे दुःख, शोक, पश्चात्ताप, क्लेश, पीड़ावश सिर पीटने आदि की क्रिया, संताप, वध, बन्धन आदि परिक्लेशों से निवृत्त नहीं होते । वे महारम्भ और महासमारम्भ नाना प्रकार के पापकर्म जनक कुकृत्य करके उत्तमोत्तम मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हैं ।

जैसे कि–वह आहार के समय आहार का, पीने के समय पेय पदार्थों का, वस्त्र परिधान के समय वस्त्रों का, आवास के समय आवासस्थान का, शयन के समय शयनीय पदार्थों का उपभोग करते हैं । वह प्रातःकाल, मध्याह्न काल और सायंकाल स्नान करते हैं फिर देव-पूजा के रूप में बलिकर्म करते चढ़ावा चढ़ाते हैं, देवता की आरती करके मंगल के लिए स्वर्ण, चन्दन, दहीं, अक्षत और दर्पण आदि मांगलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं, फिर प्रायश्चित्त के लिए शान्तिकर्म करते हैं । तत्पश्चात् सशीर्ष स्नान करके कण्ठ में माला धारण करते हैं । वह मणियों और सोने को अंगों में पहनता है, सिर पर पुष्पमाला से युक्त मुकुट धारण करता है । वह शरीर से सुडौल एवं हृष्ट-पुष्ट होता है । वह कमर में करधनी तथा वक्षःस्थल पर फूलों की माला पहनता है । बिलकुल नया और स्वच्छ वस्त्र पहनता है । चन्दन का लेप करता है । इस प्रकार सुसज्जित होकर अत्यन्त ऊंचे विशाल प्रासाद में जाता है । वहाँ वह बहुत बड़े भव्य सिंहासन पर बैठता है । वहाँ युवतियाँ उसे घेर लेती हैं । वहाँ सारी रातभर दीपक आदि का प्रकाश जगमगाता रहता है । फिर वहाँ बड़े जोर से नाच, गान, वाद्य, वीणा, तल, ताल, त्रुटित, मृदंग तथा करताल आदि की ध्वनि लगती है । इस प्रकार उत्तमोत्तम मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करता हुआ वह अपना जीवन व्यतीत करता है । वह व्यक्ति जब किसी एक नौकर को आज्ञा देता है तो चार मनुष्य बिना कहे ही वहाँ आकर सामने खड़े हो जाते हैं, (और हाथ जोड़ कर पूछते हैं) हे प्रिय! कहिए, हम आपकी क्या सेवा करें? क्या लाएं, क्या भेंट करें? क्या-क्या कार्य आपको क्या हीतकर है, क्या इष्ट है? आपके मुख को कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट है? बताइ ।

उस पुरुष को इस प्रकार सुखोपभोगमग्न देखकर अनार्य यों कहते हैं–यह पुरुष तो सचमुच देव है । यह पुरुष तो देवों से भी श्रेष्ठ है । यह तो देवों का-सा जीवन जी रहा है । इसके आश्रय से अन्य लोग भी आनन्दपूर्वक जीते हैं । किन्तु इस प्रकार उसी व्यक्ति को देखकर आर्य पुरुष कहते हैं–यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्मों में प्रवृत्त है, अत्यन्त धूर्त है, अपने शरीर की यह बहुत रक्षा करता है, यह दिशावर्ती नरक के कृष्णपक्षी नारकों में उत्पन्न होगा । यह भविष्य में दुर्लभबोधि प्राणी होगा ।

कईं मूढ़ जीव मोक्ष के लिए उद्यत होकर भी इसको पाने के लिए लालायित हो जाते हैं । कईं गृहस्थ भी इस स्थान (जीवन) को पाने की लालसा करते रहते हैं । कईं अत्यन्त विषयसुखान्ध या तृष्णान्ध मनुष्य भी इस

स्थान के लिए तरसते हैं । यह स्थान अनार्य है, बिलज्ञान-रहित है, परिपूर्ण सुख रहित है, सुन्यायत्त से रहित है, संशुद्धि-पवित्रता से रहित है, मायादि शल्य को काटने वाला नहीं है, यह सिद्धि मार्ग नहीं है, यह मुक्ति का मार्ग नहीं है, यह निर्वाण का मार्ग नहीं है, यह निर्याण का मार्ग नहीं है, यह सर्व दुःखों का नाशक मार्ग नहीं है । यह एकान्त मिथ्या और असाधु स्थान है । यही अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान का विकल्प है, ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६६५

इसके पश्चात् द्वितीय स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है–इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जैसे कि–कईं आर्य होते हैं, कईं अनार्य अथवा कईं उच्चगोत्रीय होते हैं, कईं नीचगोत्रीय, कईं विशालकाय होते हैं, कईं ह्रस्वकाय, कईं अच्छे वर्ण के होते हैं, कईं खराब वर्ण के अथवा कईं सुरूप होते हैं, कईं कुरूप । उन मनुष्यों के खेत और मकान परिग्रह होते हैं । यह सब वर्णन 'पौण्डरीक' के प्रकरण के समान समझना । यह स्थान आर्य है, केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण है, (यहाँ से लेकर) समस्त दुःखों का नाश करने वाला मार्ग है (यावत्–) । यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है । इस प्रकार धर्म-पक्ष नामक द्वितीय स्थान का विचार प्रतिपादित किया गया है ।

सूत्र - ६६६

इसके पश्चात् तीसरे स्थान मिश्रपक्ष का विकल्प इस प्रकार है–जो ये आरण्यक है, यह जो ग्राम के निकट झौंपड़ी या कुटिया बनाकर रहते हैं, अथवा किसी गुप्त क्रिया का अनुष्ठान करते हैं, या एकान्त में रहते हैं, यावत् फिर वहाँ से देह छोड़कर इस लोक में बकरे की तरह मूक के रूप में या जन्मान्ध के रूप में आते हैं । यह स्थान अनार्य है, केवलज्ञान-प्राप्ति से रहित है, यहाँ तक कि यह समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाला मार्ग नहीं है । यह स्थान एकान्त मिथ्या और बुरा है ।

इस प्रकार यह तीसरे मिश्रस्थान का विचार (विभंग) कहा गया है ।

सूत्र - ६६७

इसके पश्चात् प्रथम स्थान जो अधर्मपक्ष है, उसका विश्लेषणपूर्वक विचार किया जाता है–इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कईं मनुष्य ऐसे होते हैं, जो गृहस्थ होते हैं, जिनकी बड़ी-बड़ी इच्छाएं होती हैं, जो महारम्भी एवं महापरिग्रही होते हैं । वे अधार्मिक, अधर्म का अनुसरण करने या अधर्म की अनुज्ञा देने वाले, अधर्मिष्ठ, अधर्म की चर्चा करने वाले, अधर्मप्रायः जीवन जीने वाले, अधर्म को ही देखने वाले, अधर्म-कार्यों में ही अनुरक्त, अधर्ममय शील (स्वभाव) और आचार वाले एवं अधर्म युक्त धंधों से अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवन यापन करते हैं । इन (प्राणियों) को मारो, अंग काट डालो, टुकड़े-टुकड़े कर दो । वे प्राणियों की चमड़ी उधेड़ देते हैं, प्राणियों के खून से उनके हाथ रंगे रहते हैं, वे अत्यन्त चण्ड, रौद्र और क्षुद्र होते हैं, वे पाप कृत्य करने में अत्यन्त साहसी होते हैं, वे प्रायः प्राणियों को ऊपर उछालकर शूल पर चढ़ाते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, माया करते हैं, बकवृत्ति से दूसरों को ठगते हैं, दम्भ करते हैं, वे तौल-नाप में कम देते हैं, वे धोखा देने के लिए देश, वेष और भाषा बदल लेते हैं ।

वे दुःशील, दुष्ट-व्रती और कठिनता से प्रसन्न किये जा सकने वाले एवं दुर्जन होते हैं । जो आजीवन सब प्रकार की हिंसाओं से विरत नहीं होते यहाँ तक कि समस्त असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से जीवनभर निवृत्त नहीं होते । जो क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापस्थानों से जीवनभर निवृत्त नहीं होते । वे आजीवन समस्त स्नान, तैलमर्दन, सुगन्धित पदार्थों का लगाना, सुगन्धित चन्दनादि का चूर्ण लगाना, विलेपन करना, मनोहर कर्ण शब्द, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का उपभोग करना, पुष्पमाला एवं अलंकार धारण करना, इत्यादि सब का त्याग नहीं करते, जो समस्त गाड़ी, रथ, यान, सवारी, डोली, आकाश की तरह अधर रखी जाने वाली सवारी आदि वाहनों तथा शय्या, आसन, वाहन, भोग और भोजन आदि को विस्तृत करने की विधि को जीवनभर नहीं छोड़ते, जो सब प्रकार के क्रय-विक्रय तथा माशा, आधा माशा और तोला आदि व्यवहारों से

जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सोना, चाँदी, धन, धान्य, मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल आदि सब प्रकार के संग्रह से जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सब प्रकार के खोटे-तौले-नाप को आजीवन नहीं छोड़ते, जो सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भों का जीवनभर त्याग नहीं करते ।

वे सभी प्रकार के दुष्कृत्यों को करने-कराने से जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सभी प्रकार की पचन-पाचन आदि क्रियाओं से आजीवन निवृत्त नहीं होते, तथा जो जीवनभर प्राणियों को कूटने, पीटने, धमकाने, प्रहार करने, वध करने और बाँधने तथा उन्हें सब प्रकार से क्लेश देने से निवृत्त नहीं होते, ये तथा अन्य प्रकार के सावद्य कर्म हैं, जो बोधिबीजनाशक हैं तथा दूसरे प्राणियों को संताप देने वाले हैं, जिन्हें क्रूर कर्म करने वाले अनार्य करते हैं, उन से जो जीवनभर निवृत्त नहीं होते ।

जैसे कि कोई अत्यन्त क्रूर पुरुष चावल, मसूर, तिल, मूँग, उड़द, निप्पाव कुलत्थी, चंवला, परिमंथक आदि अकारण व्यर्थ ही दण्ड देते हैं । इसी प्रकार तथाकथित अत्यन्त क्रूर पुरुष तीतर, बटेर, लावक, कबूतर, कपिंजल, मृग, भैंसे, सूअर, ग्राह, गोह, कछुआ, सरीसृप आदि प्राणियों को अपराध के बिना व्यर्थ ही दण्ड देते हैं । उनकी जो बाह्य परीषद् होती है, जैसे दास, या संदेशवाहक अथवा दूत, वेतन या दैनिक वेतन पर रखा गया नौकर, बटाई पर काम करने वाला अन्य कामकाज करने वाला एवं भोग की सामग्री देने वाला, इत्यादि ।

इन लोगों में से किसी का जरा-सा भी अपराध हो जाने पर ये स्वयं उसे भारी दण्ड देते हैं । जैसे कि–इस पुरुष को दण्ड दो या डंडे से पीटो, इसका सिर मूंड दो, इसे डांटो, पीटो, इसकी बाँहें पीछे को बाँध दो, इसके हाथ-पैरों में हथकड़ी और बेड़ी डाल दो, उसे हाडीबन्धन में दे दो, इसे कारागार में बंद कर दो, इसके अंगों को सिकोड़कर मरोड़ दो, इसके हाथ, पैर, कान, सिर और मुँह, नाक-ओठ काट डालो, इसके कंधे पर मारकर आरे से चीर डालो, इसके कलेजे का माँस नीकाल लो, इसकी आँखें नीकाल लो, इसके दाँत उखाड़ दो, इसके अण्डकोश उखाड़ दो, इसकी जीभ खींच लो, इसे उलटा लटका दो, इसे ऊपर या कूएं में लटका दो, इसे जमीन पर घसीटो, इसे डूबो दो, इसे शूली में पिरो दो, इसके शूल चुभो दो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, इसके अंगों को घायल करके उस पर नमक छिड़क दो, इसे मृत्युदण्ड दे दो, इसे सिंह की पूँछ में बाँध दो या उसे बैल की पूँछ के साथ बाँध दो, इसे दावाग्नि में झौंककर जला दो, इसका माँस काट कर कौओं को खिला दो, इसको भोजन-पानी देना बंद कर दो, इसे मार-पीसट कर जीवनभर कैद में रखो, इसे इनमें से किसी भी प्रकार से बूरी मौत मारो ।

इन क्रूर पुरुषों की जो आभ्यन्तर परीषद होती है, जैसे कि–माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री अथवा पुत्रवधू आदि । इनमें से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर वे क्रूर पुरुष उसे भारी दण्ड देते हैं । वे उसे शर्दी के दिनों में ठंडे पानी में डाल देते हैं । जो-जो दण्ड मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान में कहे गए हैं, वे सभी दण्ड वे इन्हें देते हैं । वे ऐसा करके स्वयं अपने परलोक का अहित करते हैं । वे अन्त में दुःख पाते हैं, शोक करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, पीड़ित होते हैं, संताप पाते हैं, वे दुःख, शोक, विलाप, पीड़ा, संताप एवं वध-बंध आदि क्लेशों से निवृत्त नहीं हो पाते ।

इसी प्रकार वे अधार्मिक पुरुष स्त्रीसम्बन्धी तथा अन्य विषयभोगों में मूर्च्छित, गृद्ध, अत्यन्त आसक्त तथा तल्लीन होकर पूर्वोक्त प्रकार से चार, पाँच या छह या अधिक से अधिक दस वर्ष तक अथवा अल्प या अधिक समय तक शब्दादि विषयभोगों का उपभोग करके प्राणियों के साथ वैर का पुँज बांध करके, बहुत-से क्रूरकर्मों का संचय करके पापकर्म के भार से इस तरह दब जाते हैं, जैसे कोई लोह का गोला या पथ्थर का गोला पानी में डालने पर पानी के तल का अतिक्रमण करके भार के कारण पृथ्वीतल पर बैठ जाता है, इसी प्रकार अतिक्रूर पुरुष अत्यधिक पाप से युक्त पुर्वकृत कर्मों से अत्यन्त भारी, कर्मपंक से अति मलिन, अनेक प्राणियों के साथ बैर बाँधा हुआ, अत्यधिक अविश्वासयोग्य, दम्भ से पूर्ण, शठता या वंचना में पूर्ण, देश, वेष एवं भाषा को बदलकर धूर्तता करनेमें अतिनिपुण, जगतमें अपयश के काम करनेवाला, तथा त्रसप्राणियों के घातक; भोगों के दलदल में फँसा वह पुरुष आयुष्य पूर्ण होते ही मरकर रत्नप्रभादि भूमियोंको लाँघकर नीचे के नरकतलमें जाकर स्थित होता है ।

सूत्र - ६६८

वे नरक अंदर से गोल और बाहर से चौकोन होते हैं, तथा नीचे उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। उनमें सदा घोर अन्धकार रहता है। वे ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और ज्योतिष्कमण्डल की प्रभा से रहित हैं। उनका भूमितल भेद, चर्बी, माँस, रक्त, और मवाद की परतों से उत्पन्न कीचड़ से लिप्त है। वे नरक अपवित्र, सड़े हुए माँस से युक्त, अतिदुर्गन्ध पूर्ण और काल हैं। वे सधूम अग्नि के समान वर्ण वाले, कठोर स्पर्श वाले और दुःसह्य हैं इस प्रकार नरक बड़े अशुभ हैं और उनकी वेदनाएं भी बहुत अशुभ हैं। उन नरकों में रहने वाले नैरयिक न कभी निद्रा सुख प्राप्त करते हैं, न उन्हें प्रचलानिद्रा आती है, और न उन्हें श्रुति, रति, धृति एवं मति प्राप्त होती है। वे नारकीय जीव वहाँ कठोर, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, प्रचण्ड, दुर्गम्य, दुःखद, तीव्र, दुःसह वेदना भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं।

सूत्र - ६६९

जैसे कोई वृक्ष पर्वत के अग्रभाग में उत्पन्न हो, उसकी जड़ काट दी गई हो, वह आगे से भारी हो, वह जिधर नीचा होता है, जिधर विषम होता है, जिधर दुर्गम स्थान होता है, उधर ही गिरता है, इसी प्रकार गुरुकर्मा पूर्वोक्त पापिष्ठ पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को तथा एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त करता है।

वह दक्षिणगामी नैरयिक, कृष्णपाक्षिक तथा भविष्य में दुर्लभ-बोधि होता है।

अतः यह अधर्मपक्षीय प्रथम स्थान अनार्य है, केवलज्ञानरहित है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक मार्ग नहीं है। यह स्थान एकान्त मिथ्या एवं बूरा है।

सूत्र - ६७०

पश्चात् दूसरे धर्मपक्ष का विवरण है–इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई पुरुष ऐसे होते हैं, जो अनारम्भ, अपरिग्रह होते हैं, जो धार्मिक होते हैं, धर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं या धर्म की अनुज्ञा देते हैं, धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, या धर्मप्रधान होते हैं, धर्म की ही चर्चा करते हैं, धर्ममयजीवी, धर्म को ही देखने वाले, धर्म में अनुरक्त, धर्मशील तथा धर्मचारपरायण होते हैं, यहाँ तक कि वे धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवन यापन करते हैं, जो सुशील, सुव्रती, शीघ्रसुप्रसन्न होने वाले और उत्तम सुपुरुष होते हैं। जो समस्त प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जीवनभर विरत रहते हैं। जो स्नानादि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, समस्त गाड़ी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों से आजीवन विरत रहते हैं, क्रय-विक्रय, पचन, पाचन सावद्यकर्म करने-कराने, आरम्भ-समारम्भ आदि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, सर्वपरिग्रह से निवृत्त रहते हैं, यहाँ तक कि वे परपीड़ाकारी समस्त सावद्य अनार्य कर्मों से यावज्जीवन विरत रहते हैं।

वे धार्मिक पुरुष अनगार भाग्यवान होते हैं। वे ईर्यासमिति, यावत् उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिधाण-परिष्ठापनिका समिति, इन पाँच समितियों से युक्त होते हैं, तथा मनःसमिति, वचनसमिति, कायसमिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से भी युक्त होते हैं। वे अपनी आत्मा को पापों से गुप्त रखते हैं, अपनी इन्द्रियों को विषयभोगों से गुप्त रखते हैं, और ब्रह्मचर्य का पालन नौ गुप्तियों सहित करते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित होते हैं। वे शान्ति तथा उत्कृष्ट शान्ति से युक्त और उपशान्त होते हैं। वे समस्त संतापों से रहित, आश्रवों से रहित, बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से रहित होते हैं, इन महात्माओं ने संसार के स्रोत का छेदन कर दिया है, ये कर्ममलके लेप से रहित होते हैं। वे जलके लेप से रहित कांसे की पात्री की तरह कर्मजलके लेप से रहित होते हैं।

जैसे शंख कालिमा से रहित होता है, वैसे ही ये महात्मा रागादि के कालुष्य से रहित होते हैं। जैसे जीव की गति कहीं नहीं रुकती, वैसे ही उन महात्माओं की गति कहीं नहीं रुकती। जैसे गगनतल बिना अवलम्बन के ही रहता है, वैसे ही ये महात्मा निरावलम्बी रहते हैं। जैसे वायु को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही, ये महात्मा भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित होते हैं। शरद्काल के स्वच्छ पानी की तरह उनका हृदय भी शुद्ध और

स्वच्छ होता है । कमल का पत्ता जैसे जल के लेप से रहित होता है, वैसे ही ये भी कर्म मल के लेप से दूर रहते हैं, वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त-सुरक्षित रखते हैं । जैसे आकाश में पक्षी स्वतन्त्र विहारी होता है, वैसे ही वे महात्मा समस्त ममत्वबन्धनों से रहित होकर आध्यात्मिक आकाश में स्वतन्त्रविहारी होते हैं । जैसे गेंड़े का एक ही सींग होता है, वैसे ही वे महात्मा भाव से राग-द्वेष रहित अकेले ही होते हैं । वे भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होते हैं। जैसे हाथी वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि कषायों को निर्मूल करने में शूरवीर एवं दक्ष होते हैं। जैसे बैल भारवहन में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि संयम भारवहन में समर्थ होते हैं । जैसे सिंह दूसरे पशुओं से दबता नहीं, वैसे ही वे महामुनि परीषहों और उपसर्गों से दबते नहीं ।

जैसे मन्दर पर्वत कम्पित नहीं होता वैसे ही वे महामुनि कष्टों, उपसर्गों और भयों से नहीं काँपते । वे समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं, उनकी प्रकृति चन्द्रमा के समान सौम्य एवं शीतल होती है; उत्तम जाति के सोने में जैसे मल नहीं लगता, वैसे ही उन महात्माओं के कर्ममल नहीं लगता । वे पृथ्वी के समान सभी स्पर्श सहन करते हैं । अच्छी तरह होम की हुई अग्नि के समान वे अपने तेज से जाज्वल्यमान रहते हैं । उन अनगार भगवंतों के लिए किसी भी जगह प्रतिबंध नहीं होता । प्रतिबंध चार प्रकार से होता है, जैसे कि–अण्डे से उत्पन्न होने वाले हंस, मोर आदि पक्षियों से, पोतज, अवग्रहिक तथा औपग्रहिक होता है । वे जिस-जिस दिशा में विचरण करना चाहते हैं, उस-उस दिशा में अप्रतिबद्ध, शुचिभूत, अपनी त्यागवृत्ति के अनुरूप अणु ग्रन्थ से भी दूर होकर संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं ।

उन अनगार भगवंतों की इस प्रकार की संयम यात्रा के निर्वाहार्थ यह वृत्ति होती है, जैसे कि–वे चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त, द्वादशभक्त, चतुर्दशभक्त अर्द्ध मासिक भक्त, मासिक भक्त, द्विमासिक, तप, त्रिमासिक तप, चातुर्मासिक तप, पंचमासिक तप, एवं षाण्मासिक तप, इसके अतिरिक्त भी कोई कोई निम्नोक्त अभिग्रहों के धारक भी होते हैं । जैसे कईं उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक होते हैं, कईं उत्क्षिप्त और निक्षिप्त दोनों प्रकार की चर्या वाले होते हैं, कोई अन्त, प्रान्त, रूक्ष, सामुदानिक, संसृष्ट, असंसृष्ट आहार लेते हैं, कोई जिस अन्न या शाक आदि से चम्मच या हाथ भरा हो, उसी हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई देखे हुए आहार को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई पूछकर और कोई पूछे बिना आहार ग्रहण करते हैं । कोई तुच्छ और कोई अतुच्छ भिक्षा ग्रहण करते हैं । कोई अज्ञात घरों से आहार लेते हैं, कोई आहार के बिना ग्लान होने पर ही आहार ग्रहण करते हैं । कोई दाता के निकट रखा हुआ, कईं दत्ति की संख्या करके, कोई परिमित, और कोई शुद्ध आहार की गवेषणा करके आहार लेते हैं, वे अन्ताहारी, प्रान्ताहारी होते हैं, कईं अरसाहारी एवं कईं विरसाहारी होते हैं, कईं रूखा-सूखा आहार करने वाले तथा कईं तुच्छ आहार करने वाले होते हैं । कोई अन्त या प्रान्त आहार से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं ।

कोई पुरिमड्ढ तप करते हैं, कोई आयम्बिल तपश्चरण करते हैं, कोई निर्विगई तप करते हैं, वे अधिक मात्रा में सरस आहार का सेवन नहीं करते, कईं कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं, कईं प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्गस्थ रहते हैं, कईं उत्कट आसन से बैठते हैं, कईं आसनयुक्त भूमि पर ही बैठते हैं, कईं वीरासन लगाकर बैठते हैं, कईं डंडे की तरह आयत–लम्बे होकर लेटते हैं, कईं लगंडशायी होते हैं । कईं बाह्य प्रावरण से रहित होकर रहते हैं, कईं कायोत्सर्ग में एक जगह स्थित होकर रहते हैं, कईं शरीर को नहीं खुजलाते, वे थूक को भी बाहर नहीं फैंकते । वे सिर के केश, मूँछ, दाढ़ी, रोम और नख की काँटछाँट नहीं करते, तथा अपने सारे शरीर का परिकर्म नहीं करते ।

वे महात्मा इस प्रकार उग्रविहार करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय का पालन करते हैं । रोगादि अनेकानेक बाधाओं के उपस्थित होने या न होने पर वे चिरकाल तक आहार का त्याग करते हैं । वे अनेक दिनों तक भक्त प्रत्याख्यान करके उसे पूर्ण करते हैं । अनशन को पूर्णतया सिद्ध करके जिस प्रयोजन से उन महात्माओं द्वारा नग्नभाव, मुण्डित भाव, अस्नान भाव, अदन्तधावन, छाते और जूते का उपयोग न करना, भूमिशयन, काष्ठ-फलकशयन, केशलुंचन, ब्रह्मचर्य-वास, भिक्षार्थ परगृह-प्रवेश आदि कार्य किये जाते हैं, तथा जिसके लिए लाभ

और अलाभ मान-अपमान, अवहेलना, निन्दा, फटकार, तर्जना, मार-पीट, धमकियाँ तथा ऊंची-नीची बातें, एवं कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक कटुवचन आदि बाईस प्रकार के परीषह एवं उपसर्ग समभाव से सहे जाते हैं, उस उद्देश्य की आराधना कर लेते हैं । उस उद्देश्य की आराधना करके अन्तिम श्वासोच्छ्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं । केवलज्ञान-केवलदर्शन उपार्जित करने के पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं; परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं ।

कईं महात्मा एक ही भव में संसार का अन्त कर लेते हैं । दूसरे कईं महात्मा पूर्वकर्मों के शेष रह जाने के कारण मृत्यु प्राप्त करके किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं । जैसे कि–महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महापराक्रमयुक्त, महायशस्वी, महान् बलशाली, महाप्रभावशाली और महासुखदायी जो देवलोक है, उनमें वे देवरूप में उत्पन्न होते हैं, वे देव महाऋद्धि सम्पन्न, महाद्युति सम्पन्न यावत् महासुख सम्पन्न होते हैं । उनके वक्षःस्थल हारों से सुशोभित रहते हैं, उनकी भुजाओं में कड़े, बाजूबन्द आदि आभूषण पहने होते हैं, उनके कपोलों पर अंगद और कुण्डल लटकते रहते हैं । वे कानों में कर्णफूल धारण किये होते हैं । उनके हाथ विचित्र आभूषणों से युक्त रहते हैं । वे सिर पर विचित्र मालाओं से सुशोभित मुकुट धारण करते हैं । वे कल्याणकारी तथा सुगन्धित उत्तम वस्त्र पहनते हैं, तथा कल्याणमयी श्रेष्ठ माला और अंगलेपन धारण करते हैं । उनका शरीर प्रकाश से जगमगाता रहता है । वे लम्बी वनमालाओं को धारण करने वाले देव होते हैं । वे अपने दिव्यरूप, दिव्यवर्ण, दिव्य-गन्ध, दिव्यस्पर्श, दिव्यसंहनन, दिव्य संस्थान तथा दिव्यऋद्धि, द्युति, प्रभा, छाया, अर्चा, तेज और लेश्या से दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए, चमकाते हुए कल्याणमयी गति और स्थिति वाले तथा भविष्य में भद्रक होने वाले देवता बनते हैं ।

यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, यावत् यह समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला मार्ग है । यह स्थान एकान्त सम्यक् और बहुत अच्छा है ।

सूत्र - ६७१

इसके पश्चात् तृतीय स्थान, जो मिश्रपक्ष है, उसका विभंग इस प्रकार है–इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कईं मनुष्य होते हैं, जैसे कि–वे अल्प ईच्छा वाले, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होते हैं । वे धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं, यहाँ तक कि धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलाते हुए जीवनयापन करते हैं । वे सुशील, सुव्रती, सुगमता से प्रसन्न हो जाने वाले और साधु होते हैं । एक ओर वे किसी प्राणातिपात से जीवनभर विरत होते हैं तथा दूसरी ओर किसी प्राणातिपात से निवृत्त नहीं होते, (इसी प्रकार मृषावाद, आदि से) निवृत्त और कथंचित् अनिवृत्त होते हैं । ये और इसी प्रकार के अन्य बोधिनाशक एवं अन्य प्राणियों को परिताप देने वाले जो सावद्यकर्म हैं उनसे निवृत्त होते हैं, दूसरी ओर कतिपय कर्मों से वे निवृत्त नहीं होते ।

इस मिश्रस्थान के अधिकारी श्रमणोपासक होते हैं, जो जीव और अजीव के स्वरूप के ज्ञाता पुण्य-पाप के रहस्य को उपलब्ध किये हुए, तथा आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एवं मोक्ष के ज्ञान में कुशल होते हैं । वे श्रावक असहाय होने पर भी देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यश, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवगणों और इन के द्वारा दबाव डाले जाने पर भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का उल्लंघन नहीं करते । वे श्रावक इस निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति निःशंकित, निष्कांक्षित एवं निर्विचिकित्स होते हैं । वे सूत्रार्थ के ज्ञाता, उसे समझे हुए और गुरु से पूछे हुए होते हैं, सूत्रार्थ का निश्चय किये हुए तथा भलीभाँति अधिगत किये होते हैं । उनकी हड्डियाँ और रगें उसके प्रति अनुराग से रंजित होती हैं । वे श्रावक कहते हैं–'यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार्थक है, परमार्थ है, शेष सब अनर्थक है ।' वे स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हृदय वाले होते हैं, उनके घर के द्वार भी खुले रहते हैं; उन्हें राजा के अन्तःपुर के समान दूसरे के घर में प्रवेश अप्रीतिकर लगता है, वे श्रावक चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा आदि पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए तथा श्रमण

निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, औषध, भैषज्य, पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक, तृण आदि भिक्षारूप में देकर बहुत लाभ लेते हुए, एवं यथाशक्ति यथारुचि स्वीकृत किये हुए बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, अणुव्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास आदि तपःकर्मों द्वारा अपनी आत्मा को भावित करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं ।

वे इस प्रकार के आचरणपूर्वक जीवन यापन करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय पालन करते हैं। यों श्रावकव्रतों की आराधना करते हुए रोगादि कोई बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर भी बहुत लम्बे दिनों तक का भक्त-प्रत्याख्यान करते हैं । वे चिरकाल तक का भक्त प्रत्याख्यान करके उस अनशन-संथारे को पूर्ण करके करते हैं । उस अवमरण अनशन को सिद्ध करके अपने भूतकालीन पापों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके समाधिप्राप्त होकर मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किन्हीं देवलोकों में से किसी एक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं । तदनुसार वे महाऋद्धि, महाद्युति, महाबल, महायश यावत् महासुख वाले देवलोकों में महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होते हैं । शेष बातें पूर्ववत् । यह स्थान आर्य, एकान्त सम्यक् और उत्तम है । इस तृतीय स्थान का स्वामी अविरति की अपेक्षा से बाल, विरति की अपेक्षा से पण्डित और विरता-विरति की अपेक्षा से बाल-पण्डित कहलाता है ।

इन तीनों स्थानों में से समस्त पापों से अविरत होने का जो स्थान है, वह आरम्भस्थान है, अनार्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाश न करने वाला एकान्त मिथ्या और बूरा है । इनमें से जो दूसरा स्थान है, जिसमें व्यक्ति सब पापों से विरत होता है, वह अनारम्भ स्थान एवं आर्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक है, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम है । तथा इनमें से जो तीसरा स्थान है, जिसमें सब पापों से कुछ अंश में विरती और कुछ अंश में अविरती होती है, वह आरम्भ-नो आरम्भ स्थान है । यह स्थान भी आर्य है, यहाँ तक कि सर्व दुःखों का नाश करने वाला, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम है ।

सूत्र - ६७२

सम्यक् विचार करने पर ये तीनों पक्ष दो ही स्थानों में समाविष्ट हो जाते हैं–जैसे कि धर्म में और अधर्म में, उपशान्त और अनुपशान्त में । पहले जो अधर्मस्थान का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है, उसमें इन ३६३ प्रावादुकों का समावेश हो जाता है, यह पूर्वाचार्यो न कहा है । वे इस प्रकार हैं–क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञान-वादी और विनयवादी । वे भी 'परिनिर्वाण' का प्रतिपादन करते हैं; वे भी मोक्ष का निरूपण करते हैं; वे भी अपने श्रावकों को धर्मोपदेश करते हैं, वे भी अपने धर्म को सूनाते हैं ।

सूत्र - ६७३

वे पूर्वोक्त प्रावादुक अपने-अपने धर्म के आदि-प्रवर्तक हैं । नाना प्रकार की बुद्धि, नाना अभिप्राय, विभिन्न शील, विविध दृष्टि, नानारुचि, विविध आरम्भ और विभिन्न निश्चय रखने वाले वे सभी प्रावादुक एक स्थान में मंडलीबद्ध होकर बैठे हों, वहाँ कोई पुरुष आग के अंगारों से भरी हुई किसी पात्री को लोहे की संडासी से पकड़ कर लाए, और नाना प्रकार की प्रज्ञा, अभिप्राय, शील, दृष्टि, रुचि, आरम्भ और निश्चय वाले, धर्मों के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से कहे–''अजी ! नाना प्रकार की बुद्धि आदि तथा विभिन्न निश्चय वाले धर्मों के आदिप्रवर्तक प्रावादुको ! आप लोग आग के अंगारों से भरी हुई पात्री को लेकर थोड़ी-थोड़ी देर तक हाथ में पकड़ रखें, संडासी की सहायता न लें, और न ही आग को बुझाएं या कम करे, अपने साधर्मिकों की वैयावृत्य भी न कीजिए, न ही अन्य धर्म वालों की वैयावृत्य कीजिए, किन्तु सरल और मोक्षाराधक बनकर कपट न करते हुए अपने हाथ पसारिए।'' यों कहकर वह पुरुष आग के अंगारों से पूरी भरी हुई उस पात्री को लोहे की संडासी से पकड़कर उन प्रावादुकों के हाथ पर रखे । उस समय धर्म के आदि प्रवर्तक तथा नाना प्रज्ञा, शील, अध्यवसाय आदि से सम्पन्न वे सब प्रावादुक अपने हाथ अवश्य ही हटा लेंगे । यह देखकर वह पुरुष उन प्रावादुकों से इस प्रकार कहे–'प्रावादुको! आप अपने हाथ को क्यों हटा रहे हैं ?' 'इसीलिए कि हाथ न जले !' (हम पूछते हैं–) हाथ जल जाने से क्या

होगा? यही कि दुःख होगा । यदि दुःख के भय से आप हाथ हटा लेते हैं तो यही बात आप सबके लिए अपने समान मानीए, यही सबके लिए प्रमाण मानीए, यही धर्म का सार-सर्वस्व समझीए । यही बात प्रत्येक के लिए तुल्य समझीए, यही युक्ति प्रत्येक के लिए प्रमाण मानीए, और इसी को प्रत्येक के लिए धर्म का सार-सर्वस्व समझीए ।

धर्म के प्रसंग में जो श्रमण और माहन ऐसा कहते हैं, यावत ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का हनन करना चाहिए, उन पर आज्ञा चलाना चाहिए, उन्हें दास-दासी आदि के रूप में रखना चाहिए, उन्हें परिताप, क्लेश, उपद्रवित करना चाहिए । ऐसा करने वाले वे भविष्य में 'अपने शरीर को छेदन -भेदन आदि पीड़ाओं का भागी बनाते हैं । वे भविष्य में जन्म, मरण, विवित योनियों में उत्पत्ति, फिर संसार में पुनः जन्म, गर्भवास, और सांसारिक प्रपंच में पड़कर महाकष्ट के भागी होंगे । वे घोर दण्ड के भागी होंगे । वे बहुत ही मुण्डन, तर्जन, ताड़न, खोड़ी बन्धन के, यहाँ तक कि घोले (पानी में डूबोए) जाने के भागी होंगे । तथा माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि मरण दुःख के भागी होंगे । वे दरिद्रता, दुर्भाग्य, अप्रिय व्यक्ति के साथ निवास, प्रियवियोग, तथा बहुत-से दुःखों और वैमनस्यों के भागी होंगे । वे आदि-अन्तरहित तथा दीर्घकालिक चतुर्गतिक संसार रूप घोर जंगल में बार-बार परिभ्रमण करते रहेंगे । वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होंगे, न ही बोध को प्राप्त होंगे, यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं कर सकेंगे । जैसे सावद्य अनुष्ठान करनेवाले अन्यतीर्थिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही सावद्यानुष्ठानकर्ता स्वयूथिक भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, वे भी पूर्वोक्त अनेक दुःखों के भागी होते हैं । यह कथन सबके लिए तुल्य है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, यही सारभूत विचार है । यह प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है, प्रत्येक के लिए यह प्रमाण सिद्ध है, तथा प्रत्येक के लिए यही सारभूत विचार है।

परन्तु धर्म-विचार के प्रसंग में जो सुविहित श्रमण एवं माहन यह कहते हैं कि–समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, उन्हें अपनी आज्ञा में नहीं चलाना एवं उन्हें बलात् दास-दासी के रूप में पकड़ कर गुलाम नहीं बनाना चाहिए, उन्हें डराना-धमकाना या पीड़ित नहीं करना चाहिए, वे महात्मा भविष्य में छेदन-भेदन आदि कष्टों को प्राप्त नहीं करेंगे, वे जन्म, जरा, मरण, अनेक योनियों में जन्म-धारण, संसार में पुनः पुनः जन्म, गर्भवास तथा संसार के अनेकविध प्रपंच के कारण नाना दुःखों के भाजन नहीं होंगे । तथा वे आदि-अन्त रहित, दीर्घकालिक मध्यरूप चतुर्गतिक संसाररूपी गोर वन में बारंबार भ्रमण नहीं करेंगे । वे सिद्धि को प्राप्त करेंगे, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर बुद्ध और मुक्त होंगे, तथा समस्त दुःखों का सदा के लिए अन्त करेंगे ।

सूत्र - ६७४

इन बारह क्रियास्थानों में वर्तमान जीव अतीत में सिद्ध नहीं हुए, बुद्ध नहीं हुए, मुक्त नहीं हुए यावत् सर्व-दुःखों का अन्त न कर सके, वर्तमान में भी वे सिद्ध, यावत् सर्वदुःखान्तकारी नहीं होते और न भविष्य में सिद्ध यावत् सर्वदुःखान्तकारी होंगे । परन्तु इस तेरहवे क्रियास्थान में वर्तमान जीव अतीत, वर्तमान एवं भविष्य में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वान्तिकृत हुए हैं, होते हैं और होंगे । इस प्रकार वह आत्मार्थी, आत्महित तत्पर, आत्मगुप्त, आत्मयोगी, आत्मभाव में पराक्रमी, आत्मरक्षक, आत्मानुकम्पक, आत्मा का जगत से उद्धार करने वाला उत्तम साधक अपनी आत्मा को समस्त पापों से निवृत्त करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-२ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-३ – आहारपरिज्ञा

सूत्र - ६७५

आयुष्मन् ! मैंने सूना है, उन भगवान श्री महावीर स्वामी ने कहा था–इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में आहारपरिज्ञा अध्ययन है, जिसका अर्थ यह है–इस समग्र लोक में पूर्व आदि दिशाओं तथा ऊर्ध्व आदि विदिशाओं में सर्वत्र चार प्रकार के बीजकाय वाले जीव होते हैं, अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एवं स्कन्धबीज । उन बीजकायिक जीवों में जो जिस प्रकार के बीज से, जिस-जिस अवकाश से उत्पन्न होने की योग्यता रखते हैं, वे उस उस बीज से तथा उस-उस अवकाश में उत्पन्न होते हैं । इस दृष्टि से कईं बीजकायिक जीव पृथ्वीयोनिक होते हैं, पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, उसी पर स्थित रहते हैं और उसी पर उनका विकास होता है ।

इसलिए पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले और उसी पर स्थित रहने व बढ़ने वाले वे जीव कर्म के वशीभूत होकर तथा कर्म के निदान से आकर्षित होकर वहीं वृद्धिगत होकर नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वीयों पर वृक्ष रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव नाना जाति की योनियों वाली पृथ्वीयों के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी शरीर अप्-शरीर, तेजः शरीर, वायु शरीर और वनस्पति-शरीर का आहार करते हैं । तथा वे पृथ्वी जीव नाना-प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं । वे आदि के अत्यन्त विध्वस्त उस शरीर को कुछ प्रासुक कुछ परितापित कर देते हैं, वे इन के पूर्व-आहारित किया था, उसे अब भी त्वचास्पर्श द्वारा आहार करते हैं, तत्पश्चात् उन्हें स्वशरीर के रूप में विपरिणत करते हैं । और उक्त विपरिणामित शरीर को स्व स्वरूप कर लेते हैं । इस प्रकार वे सर्व दिशाओं से आहार करते हैं । उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के दूसरे शरीर भी अनेक वर्ण, अनेक गन्ध, नाना रस, नाना स्पर्श के तथा नाना संस्थानों से संस्थित एवं नाना प्रकार के शारीरिक पुद्गलों से विकुर्वित होकर बनते हैं । वे जीव कर्मों के उदय अनुसार स्थावरयोनि में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है ।

सूत्र - ६७६

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने पहले बताया है, कि कईं सत्त्व वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, अतएव वे वृक्ष-योनिक होते हैं, वृक्ष में स्थित रहकर वहीं वृद्धि को प्राप्त होते हैं । वृक्षयोनिक, वृक्ष में उत्पन्न, उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले कर्मों के उदय के कारण वे जीव कर्म से आकृष्ट होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों से उनके स्नेह का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं । वे नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर डालते हैं । वे परिविध्वस्त किये हुए एवं पहले आहार किये हुए, तथा त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि शरीरों को विपरिणामित कर अपने अपने समान स्वरूप में परिणत कर लेते हैं । वे सर्व दिशाओं से आहार लेते हैं । उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, अनेक प्रकार के संस्थानों से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं, जो अनेक प्रकार के शारीरिक पुद्गलों से विकुर्वित होते हैं । वे जीव कर्म के उदय के अनुरूप ही पृथ्वीयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है ।

सूत्र - ६७७

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों का अन्य भेद बताया है । इसी वनस्पतिकायवर्ग में कईं जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष में उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थिति एवं वृद्धि को प्राप्त होते हैं । वृक्षयोनिक जीव कर्म के वशीभूत होकर कर्म के ही कारण उन वृक्षों में आकर वृक्षयोनिक जीवों में वृक्षरूप से उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह को आहार करते हैं । इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं । वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं । परिविध्वस्त किये हुए तथा पहले आहार किये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं । उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे शरीर होते हैं । वे जीव कर्मोदय वश वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह तीर्थंकर देव ने कहा है ।

सूत्र - ६७८

श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों के और भेद भी बताए हैं । इस वनस्पतिकायवर्ग में कईं जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते हैं, वृक्ष में ही संवर्द्धित होते रहते हैं । वे वृक्ष-योनिक जीव कर्मोदयवश वृक्षों में आते हैं और वृक्षयोनिक वृक्षों में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं । वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के शरीर को अचित्त कर देते हैं । फिर प्रासुक हुए उनके शरीरों को पचाकर अपने समान रूप में परिणत कर डालते हैं । उन वृक्षयोनिक मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज रूप जीवों के और भी शरीर होते हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श वाले तथा नाना प्रकार के पुद्‌गलों से बने हुए होते हैं । वे जीव कर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है ।

सूत्र - ६७९

श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के अन्य भेद भी बताए हैं । इस वनस्पतिकाय जगत में कईं वृक्षयोनिक जीव वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते एवं बढ़ते हैं । इस प्रकार उसी में उत्पन्न, स्थित और संवर्धित होने वाले वे वृक्षयोनिक जीव कर्मोदयवश तथा कर्म के कारण ही वृक्षों में आकर उन वृक्षयोनिक वृक्षों में 'अध्यारूह' वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीर का भी आहार करते हैं । वे उन्हें अचित्त, प्रासुक एवं परिणामित करके अपने स्वरूप में मिला लेते हैं । उनके नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले तथा अनेकविध रचना वाले एवं विविध पुद्‌गलों से बने हुए दूसरे शरीर भी होते हैं । वे अध्यारूह वनस्पति जीव स्वकर्मोदयवश ही वहाँ उस रूप में उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६८०

वनस्पतिकायजगत में अध्यारूहयोनिक जीव अध्यारूह में ही उत्पन्न होते हैं, उसी में स्थित रहते एवं संवर्द्धित होते हैं । वे जीव कर्मोदय के कारण ही वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षों में अध्यारूह के रूप में उत्पन्न होते हैं वे जीव उन वृक्षयोनिक अध्यारूहों के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पतिक के शरीर का आहार करते हैं । वे त्रस और स्थावर जीवों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त कर डालते हैं, फिर उनके परि-विध्वस्त शरीर को पचाकर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं । उन वनस्पतियों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, नाना संस्थान वाले, अनेकविध पुद्‌गलों से बने हुए और भी शरीर होते हैं, वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों से ही अध्यारूहयोनिक अध्यारूहों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६८१

इस वनस्पतिकायिक जगत में कईं अध्यारूहयोनिक प्राणी अध्यारूह वृक्षों में ही उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में उनकी स्थिति और संवृद्धि होती है । वे प्राणी तथाप्रकार के कर्मोदयवश वहाँ आते हैं और अध्यारूहयोनिक वृक्षों में अध्यारूह रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं । तथा वे त्रस जीव और स्थावर प्राणियों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त प्रासुक एवं विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं । उन अध्यारूह-योनिक अध्यारूह वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानों से युक्त, विविध पुद्‌गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । स्वकृतकर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६८२

वनस्पतिकायजगत में कईं जीव अध्यारूहयोनिक होते हैं । वे अध्यारूह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं में स्थित रहते हैं और बढ़ते हैं । वे अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर अध्यारूह वृक्षों में आते हैं और अध्यारूह-

योनिक अध्यारूह वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का भी आहार करते हैं । वे जीव त्रस और स्थावर जीवों के शरीर से रस खींचकर उन्हें अचित्त कर देते हैं । प्रासुक हुए उस शरीर को वे विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं । उन वृक्षों के मूल से लेकर बीज तक के जीवों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान से युक्त, अनेक प्रकार के पुद्गलों से रचित अन्य शरीर भी होते हैं । वे स्व-स्वकर्मोदयवश ही इनमें उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६८३

वनस्पतिकायिक जगतमें कईं प्राणी पृथ्वीयोनिक होते हैं, वे पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी में ही स्थित होकर उसीमें संवर्धन पाते हैं । वे जीव स्वकर्मोदयवश नाना प्रकार की जातिवाली पृथ्वीयों पर तृणरूपमें उत्पन्न होते हैं । वे तृण के जीव उन नाना जातिवाली पृथ्वी के स्नेह का आहार करते हैं । वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का आहार करते हैं । त्रस-स्थावर जीवों के शरीरों को अचित्त, प्रासुक एवं स्वरूपमें परिणत करते हैं । वे जीव कर्म से प्रेरित होकर ही पृथ्वीयोनिक तृण के रूप में उत्पन्न होते हैं, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् । ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६८४

इसी प्रकार कईं (वनस्पतिकायिक) जीव पृथ्वीयोनिक तृणोंमें तृण रूप से उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहते, एवं संवृद्ध होते हैं । वे पृथ्वीयोनिक तृणों के शरीर का आहार करते हैं, इत्यादि समस्त वर्णन पूर्ववत् समझ लेना ।

सूत्र - ६८५

इसी तरह कईं (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणों में तृणरूप में उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित एवं संवृद्ध होते हैं । वे जीव तृणयोनिक तृणों के शरीर का ही आहार ग्रहण करते हैं । शेष सारा वर्णन पूर्ववत् समझना।

इसी प्रकार कईं (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणों में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीजरूप में उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहे एवं संवृद्ध होते हैं । वे तृणयोनिक तृणों का आहार करते हैं । इन जीवों का शेष वर्णन पूर्ववत् ।

इसी प्रकार औषधिरूप में उत्पन्न जीवों के भी चार आलापक नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वीयों में औषधि विविध अन्नादि की पकी हुई फसल के रूप में, पृथ्वीयोनिक औषधियों में औषधि के रूप में, औषधियोनिक औषधियों के रूप में एवं औषधियोनिक औषधियों में (मूल से बीज तक के रूप में) सारा वर्णन पूर्ववत् ।

इसी प्रकार हरितरूपमें उत्पन्न वनस्पतिकायिक जीवों के भी चार आलापक (१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वीयों पर हरितरूप में, (२) पृथ्वीयोनिक हरितो में हरितरूप में, (३) हरित योनिक हरितों में हरित (अध्यारूह) रूपमें,(४) हरितयोनिक हरितों के मूल से लेकर बीज तक के रूप में एवं उनका सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना ।

सूत्र - ६८६

इस वनस्पतिकाय जगत में कईं जीव पृथ्वीयोनिक होते हैं, वे पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही रहते हैं और उसी पर ही विकसित होते हैं । वे पूर्वोक्त पृथ्वीयोनिक वनस्पतिजीव स्व-स्वकर्मोदयवश कर्म के कारण ही वहाँ आकर उत्पन्न होते हैं । वे नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वीयों पर आय, वाय, काय, कूहण, कन्दुक, उपेहणी, निर्वेहणी, सछत्रक, छत्रक, वासानी एवं क्रूर नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन नानाविध योनियों वाली पृथ्वीयों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वीकायिक आदि छहों काय के जीवों के शरीर का आहार करते हैं । पहले उनसे रस खींच कर वे उन्हें अचित्त-प्रासुक कर देते हैं, फिर उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं । उन पृथ्वीयोनिक आयवनस्पति से लेकर क्रूरवनस्पति तक के जीवों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आकार-प्रकार और ढाँचे वाले तथा विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । इन जीवों का एक ही आलापक होता है, शेष तीन आलापक नहीं होते ।

इस वनस्पतिकायजगतमें कईं उदकयोनिक वनस्पतियाँ होती हैं, जो जल में ही उत्पन्न होती हैं, जल में ही

रहती और उसीमें बढ़ती हैं । वे उदकयोनिक वनस्पति जीव पूर्वकृत कर्मोदयवश-कर्मों के कारण ही उनमें आते हैं और नाना प्रकार की योनियों वाले उदकों में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव नाना प्रकार के जाति वाले फलों के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन जलयोनिक वृक्षों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान वाले तथा विविध पुद्‌गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । वे जीव स्वकर्मोदयवश ही जलयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं । पृथ्वीयोनिक वृक्ष के चार भेदों के समान ही यहाँ जलयोनिक वृक्षों के भी चार भेदों के भी प्रत्येक के चार-चार आलापक कहने चाहिए ।

इस वनस्पतिकायजगत में कईं जीव उदकयोनिक होते हैं, जो जलमें उत्पन्न होते हैं, वहीं रहते और वहीं संवृद्धि पाते हैं । वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण ही तथारूप वनस्पतिकाय में आते हैं और वहाँ वे अनेक प्रकार की योनि के उदकों में उदक, अवक, पनक, शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणितक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस, भिस, मृणाल, पुष्कर, पुष्कराक्षिभग के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव नाना जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा पृथ्वीकाय आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन जलयोनिक वनस्पतियों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान से युक्त एवं नानाविध पुद्‌गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । वे सभी जीव स्व-कृतकर्मानुसार ही इन जीवों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है । इसमें केवल एक ही आलापक होता है ।

सूत्र - ६८७

इस वनस्पतिकायिक जगत में कईं जीव-पृथ्वीयोनिक वृक्षों में, कईं वृक्षयोनिक वृक्षों में, कईं वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, कईं वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षों में, कईं अध्यारूह योनिक अध्यारूहों में, कईं अध्यारूहयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, कईं पृथ्वीयोनिक तृणों में, कईं तृणयोनिक तृणों में, कईं तृणयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, इसी तरह औषधि और हरितों के सम्बन्ध में तीन-तीन आलापक कहे गए हैं, कईं पृथ्वीयोनिक आय, काय से लेकर कूट तक के वनस्पतिकायिक अवयवों में, कईं उदकयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, तथा वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों में, इसी तरह अध्यारूहों, तृणों, औषधियों और हरितों में (पूर्वोक्तवत तीन-तीन आलापक हैं) तथा कईं उदकयोनिक उदक, अवक से लेकर पुष्क-राक्षिभगों में त्रस-प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं ।

वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के, जलयोनिक वृक्षों के, अध्यारूहयोनिक वृक्षों के, एवं तृणयोनिक, औषधियोनिक, हारितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष, अध्यारूह, तृण, औषधि, हरित, एवं मूल से लेकर बीज तक के, तथा आय, काय से लेकर कूट वनस्पति तक के एवं उदक अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग वनस्पति तक के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन वृक्षयोनिक, अध्यारूहयोनिक, तृण-योनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक, मूलयोनिक, कन्दयोनिक से लेकर बीजयोनिक पर्यन्त तथा आय, काय से लेकर कूटयोनिकपर्यन्त, एवं अवक अवकयोनि से लेकर पुष्कराक्षिभगयोनिकपर्यन्त त्रसजीवों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान से युक्त तथा विविध पुद्‌गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । ये सभी जीव स्वस्वकर्मानुसार ही अमुक-अमुक रूप में अमुक योनि में उत्पन्न होते हैं । ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है ।

सूत्र - ६८८

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने मनुष्यों का स्वरूप बतलाया है । जैसे कि–कईं मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न होते हैं, कईं अकर्मभूमि में और कईं अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न होते हैं । कोई आर्य है, कोई म्लेच्छ । उन जीवों की उत्पत्ति अपने अपने बीज और अपने-अपने अवकाश के अनुसार होती है । इस उत्पत्ति के कारणरूप पूर्वकर्मनिर्मित योनि में स्त्री पुरुष का मैथुनहेतुक संयोग उत्पन्न होता है । दोनों के स्नेह का आहार करते हैं, तत्पश्चात् वे जीव वहाँ स्त्री-रूप में, पुरुषरूप में और नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं । सर्वप्रथम वे जीव माता के रज और पिता के वीर्य का, जो परस्पर मिले हुए कलुष और धृणित होते हैं, ओज-आहार करते हैं । उसके पश्चात्

माता, जिन अनेक प्रकार की सरस वस्तुओं का आहार करती है, वे जीव उसके एकदेश का ओज आहार करते हैं क्रमशः वृद्धि एवं परिपाक को प्राप्त वे जीव माता के शरीर से नीकलते हुए कोई स्त्रीरूप में, कोई पुरुषरूप में और कोई नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव बालक होकर माता के दूध और घी का आहार करते हैं । क्रमशः बड़े हो कर वे जीव चावल, कुल्माष एवं त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं । फिर वे उनके शरीर को अचित्त करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं । उन कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज, आर्य और म्लेच्छ आदि अनेकविध मनुष्यों के शरीर नानावर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श एवं संस्थान वाले नाना पुद्गलों से रचित होते हैं । ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६८९

इसके पश्चात् तीर्थंकरदेव ने पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जलचरों का वर्णन किया है, जैसे कि–मत्स्यों से लेकर सुंसुमार तक के जीव पंचेन्द्रियजलचर तिर्यंच हैं । वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर स्व-स्वकर्मानुसार पूर्वोक्त प्रकार के गर्भमें उत्पन्न होते हैं । फिर वे जीव गर्भमें माता के आहार के एकदेश को ओज-आहाररूपमें ग्रहण करते हैं । इस प्रकार वे क्रमशः वृद्धिप्राप्त होकर गर्भ के परिपक्व होने पर माता की काया से बाहर नीकलकर कोई अण्डे के रूपमें होते हैं, कोई पोत के रूपमें होते हैं। जब वह अण्डा फूटता है तो कोई स्त्री रूपमें, कोई पुरुष रूपमें और कोई नपुंसक रूपमें उत्पन्न होते हैं । वे जलचर जीव बाल्यावस्था आने पर जल के स्नेह का आहार करते हैं । क्रमशः बड़े होने पर वनस्पति-काय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं, एवं उन्हें पचाकर क्रमशः अपने रूप में परिणत कर लेते हैं । उन जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंच जीवों के दूसरे भी नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, नाना आकृति एवं अवयव रचना वाले तथा नाना पुद्गलों से रचित अनेक शरीर होते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है ।

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने स्थलचर चतुष्पद तिर्यंचपंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में बताया है, जैसे कि–कोई स्थलचर चौपाये पशु एक खुर वाले, कईं दो खुर वाले, कईं गण्डीपद और कईं नखयुक्त पद वाले होते हैं । वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं । स्त्री-पुरुष का कर्मानुसार परस्पर संयोग होने पर वे जीव चतुष्पद स्थलचरजाति के गर्भ में आते हैं । वे माता और पिता दोनों के स्नेह का पहले आहार करते हैं । उस गर्भ में वे जीव स्त्री, पुरुष या नपुंसक के रूप में होते हैं । वे जीव माता के ओज और पिता के शुक्र का आहार करते हैं । शेष सब बातें पूर्ववत् । इनमें कोई स्त्री के रूप में, कभी नर के रूप में और कोई नपुंसक के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव बाल्यावस्था में माता के दूध और धृत का आहार करते हैं । बड़े होकर वे वनस्पतिकाय का तथा दूसरे त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । वे प्राणी पृथ्वी आदिके शरीर का भी आहार करते हैं । फिर वे आहार किये हुए पदार्थोंको पचाकर अपने शरीर के रूपमें परिणत करते हैं । उन स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक चतुष्पद जीवों के विविध वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एवं रचना वाले दूसरे अनेक शरीर भी होते हैं, ऐसा कहा है

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने उरपरिसर्प, स्थलचर, पंचेन्द्रिय, तिर्यंचयोनिक जीवों का वर्णन किया है । जैसे कि सर्प, अजगर, आशालिक और महोरग आदि उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव हैं । वे जीव अपने-अपने उत्पत्तियोग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । इन प्राणियों में भी स्त्री और पुरुष का परस्पर मैथुन नामक संयोग होता है, उस संयोग के होने पर कर्मप्रेरित प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी नियत योनि में उत्पन्न होते हैं । शेष बातें पूर्ववत् । उनमें से कईं अंडा देते हैं, कईं बच्चा उत्पन्न करते हैं । उस अंडे के फूट जाने पर उसमें से कभी स्त्री होती है, कभी नर पैदा होता है और कभी नपुंसक होता है । वे बीज बाल्या-वस्था में वायुकाय का आहार करते हैं । क्रमशः बड़े होने पर वे वनस्पतिकाय तथा अन्य त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी के शरीर से लेकर वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं, फिर उन्हें पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं । उन उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकृति एवं संस्थान वाले अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, ऐसा कहा है ।

इसके पश्चात् भुजपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के विषय में श्री तीर्थंकर भगवान ने कहा है । जैसे कि–गोह, नेवला, सेह, सरट, सल्लक, सरथ, खोर, गृहकोकिला, विषम्भरा, मूषक, मंगुस, पदलातिक, विडालिक, जोध और चातुष्पद आदि भुजपरिसर्प हैं । उन जीवों की उत्पत्ति भी अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है । उर:परिसर्प जीवों के समान ये जीव भी स्त्री-पुरुष संयोग से उत्पन्न होते हैं । शेष सब बातें पूर्ववत् । ये जीव भी अपने किये हुए आहार को पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं । गोह से लेकर चातुष्पद तक उन अनेक जाति वाले भुजपरिसर्प स्थलचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों के नाना वर्णादि को लेकर अनेक शरीर होते हैं, ऐसा कहा है ।

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने आकाशचारी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के विषय में कहा है । जैसे कि–चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गपक्षी तथा विततपक्षी आदि खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय होते हैं । उन प्राणियों की उत्पत्ति भी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के अनुसार होती है और स्त्री-पुरुष के संयोग से इनकी उत्पत्ति होती है । शेष बातें उर:परिसर्प के समान जानना । वे प्राणी गर्भ से नीकलकर बाल्यावस्था प्राप्त होने पर माता के शरीर के स्नेह का आहार करते हैं । फिर क्रमश: बड़े होकर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते हैं । इन आकाशचारी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के और भी अनेक प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एवं अवयवरचना वाले शरीर होते हैं, ऐसा कहा है ।

सूत्र - ६९०

इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने निरूपण किया है कि इस जगत में कई प्राणी नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं । वे अनेक प्रकार की योनियों में स्थित रहते हैं, संवर्द्धन पाते हैं । वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मानुसार उन कर्मों के ही प्रभाव से विविध योनियों में आकर उत्पन्न होते हैं । वे प्राणी अनेक प्रकार के त्रस स्थावर-पुद्गलों के सचित्त या अचित्त शरीरों में उनके आश्रित होकर रहते हैं । वे जीव अनेकविध त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन त्रस-स्थावर योनियों से उत्पन्न, और उन्ही के आश्रित रहने वाले प्राणियों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, विविध संस्थान वाले और भी अनेक प्रकार के शरीर होते हैं, ऐसा कहा है । इसी प्रकार विष्ठा और मूत्र आदि में कुरूप विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और गाय भैंस आदि के शरीर में चर्मकीट उत्पन्न होते हैं ।

इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्यान्य प्राणियों के आहारादि का प्रतिपादन किया है । इस जगत में नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर कर्म से प्रेरित वायुयोनिक जीव अप्काय में आते हैं । वे प्राणी वहाँ अप्काय में आकर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अप्कायरूप में उत्पन्न होते हैं । वह अप्काय वायु से बना हुआ या वायु से संग्रह किया हुआ अथवा वायु के द्वारा धारण किया हुआ होता है । अत: वह ऊपर का वायु हो तो ऊपर, नीचे का वायु हो तो नीचे और तीरछा वायु हो तो तीरछा जाता है । उस अप्काय के कुछ नाम ये हैं–ओस, हिम, मिहिका, ओला, हरतनु और शुद्ध जल । वे जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियोंके स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वीआदिके शरीरों का भी आहार करते हैं । तथा पूर्वभुक्त त्रस स्थावरीय आहार को पचाकर अपने रूपमें परिणत कर लेते हैं । उन त्रस-स्थावरयोनि समुत्पन्न जलकायिक जीवों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान, आकार-प्राकार आदि के और भी अनेक शरीर होते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है ।

इस जगत में कितने ही प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, जल में ही रहते हैं और जल में ही बढ़ते हैं । वे अपने पूर्वकृतकर्म के प्रभाव से जल में जलरूप से उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन त्रस-स्थावर योनिको जलों के स्नेह का आहार करते हैं । वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं तथा उन्हें पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं । उस त्रस-स्थावरयोनिक उदकों के अनेक वर्णादि वाले दूसरे शरीर भी होते हैं, ऐसा कहा है ।

इस जगत में कितने ही जीव उदकयोनिक उदकों में अपने पूर्वकृत कर्मों के वशीभूत होकर आते हैं । तथा

उदकयोनिक उदकजीवों में उदकरूप में जन्म लेते हैं । वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार ग्रहण करते हैं और उन्हें अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं । उन उदक-योनिक उदकों के अनेक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श एवं संस्थान वाले और भी शरीर होते हैं, ऐसा प्ररूपित है ।

इस संसार में अपने पूर्वकृत कर्मों के उदय से उदकयोनिक उदकों में आकर उनमें त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन उदकयोनि वाले उदकों के स्नेह का आहार करते हैं । वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन उदकयोनिक त्रसप्राणियों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, ऐसा बताया है ।

सूत्र - ६९१

इस संसार में कितने ही जीव पूर्वजन्म में नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ किये हुए कर्मोदयवशात् नाना प्रकार के त्रसस्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन विभिन्न प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं । पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्निकायों के दूसरे भी शरीर बताए गए हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान आदि के होते हैं । शेष तीन आलापक उदक के आलापकों के समान समझना ।

सूत्र - ६९२

इस संसार में कितने ही जीव पूर्वजन्म में नाना प्रकार की योनियों में आकर वहाँ किये हुए अपने कर्म के प्रभाव से त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं । वायुकाय के सम्बन्ध में शेष बातें तथा चार आलापक अग्निकाय समान समझना ।

सूत्र – ६९३-६९७

इस संसार में कितने ही जीव नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर उनमें अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से पृथ्वीकाय में आकर अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में पृथ्वी, शर्करा या बालू के रूप में उत्पन्न होते हैं । इस विषय में निम्न गाथाओं के अनुसार जानना:-- पृथ्वी, शर्करा, बालू, पथ्थर, शिला, नमक, लोहा, रांगा, तांबा, चाँदी, शीशा, सोना और वज्र । तथा हड़ताल, हींगलू, मनसिल, सासक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल, अभ्रबालुका, ये सब पृथ्वीकाय के भेद हैं ।गोमेदक रत्न, रुचकतरत्न, अंकरत्न, स्फटिकरत्न, लोहिताक्षरत्न, मरकतरत्न, मसारगल्ल, भुजपरिमोच-करत्न तथा इन्द्रनीलमणि । चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त एवं सूर्यकांत ये मणियों के भेद हैं ।

सूत्र - ६९८

इन गाथाओं में उक्त जो मणि, रत्न आदि कहे गए हैं, उन में वे जीव उत्पन्न होते हैं । वे जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं । पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं । उन त्रस और स्थावरों से उत्पन्न प्राणियों के दूसरे शरीर भी नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि की अपेक्षा से बताए गए हैं। शेष तीन आलापक जलकायिक जीव के आलापकों के समान ही समझना ।

सूत्र - ६९९

समस्त प्राणी, सर्व भूत, सर्व सत्त्व और सर्व जीव नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं, वहीं वे स्थित रहते हैं, वहीं वृद्धि पाते हैं । वे शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, शरीर में ही रहते हैं, तथा शरीर में ही बढ़ते हैं, एवं वे शरीर का ही आहार करते हैं । वे अपने-अपने कर्म का अनुसरण करते हैं, कर्म ही उस-उस योनि में उनकी उत्पत्ति का प्रधान कारण है । उनकी गति और स्थिति भी कर्म अनुसार होती है । वे कर्म के ही प्रभाव से सदैव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए दुःख के भागी होते हैं । हे शिष्यो ! ऐसा ही जानो, और इस प्रकार जानकर सदा आहारगुप्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्रसहित, समितियुक्त एवं संयमपालनमें सदा यत्नशील बनो। ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-३ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-४ – प्रत्याख्यानक्रिया

सूत्र - ७००

आयुष्मन् ! उन तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था, इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रत्याख्यानक्रिया अध्ययन है । उसका यह अर्थ बताया है कि आत्मा अप्रत्याख्यानी भी होता है; आत्मा अक्रियाकुशल भी होता है; आत्मा मिथ्यात्व में संस्थित भी होता है; आत्मा एकान्तरूप से दूसरे प्राणियों को दण्ड देने वाला भी होता है; आत्मा एकान्त बाल भी होता है; आत्मा एकान्तरूप से सुषुप्त भी होता है; आत्मा अपने मन, वचन, काया और वाक्य पर विचार न करने वाला भी होता है । और आत्मा अपने पापकर्मों का प्रतिहत एवं प्रत्याख्यान नहीं करता । इस जीव को भगवान ने असंयत, अविरत, पापकर्म का घात और प्रत्याख्यान न किया हुआ, क्रियासहित, संवर-सहित, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला, एकान्त बाल, एकान्तसुप्त कहा है । मन, वचन, काया और वाक्य के विचार से रहित वह अज्ञानी, चाहे स्वप्न भी न देखता हो तो भी वह पापकर्म करता है ।

सूत्र - ७०१

इस विषय में प्रेरक ने प्ररूपक से इस प्रकार कहा–पापयुक्त मन न होने पर, पापयुक्त वचन न होने पर, तथा पापयुक्त काया न होने पर जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता, जो अमनस्क है, जिसका मन, वचन, शरीर और वाक्य हिंसादि पापकर्म के विचार से रहित है, जो पापकर्म करने का स्वप्न भी नहीं देखता ऐसे जीव के पापकर्म का बन्ध नहीं होता । किस कारण से उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता ? प्रेरक इस प्रकार कहता है–किसी का मन पापयुक्त होने पर ही मानसिक पापकर्म किया जाता है, तथा पापयुक्त वचन होने पर ही वाचिक पापकर्म किया जाता है, एवं पापयुक्त शरीर होने पर ही कायिक पापकर्म किया जाता है । जो प्राणी हिंसा करता है, हिंसायुक्त मनोव्यापार से युक्त है, जो जानबूझ कर मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता है, जो स्पष्ट विज्ञानयुक्त भी है । इस प्रकार के गुणों से युक्त जीव पापकर्म करता है । पुनः प्रेरक कहता है–'इस विषय में जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन पापयुक्त न हो, वचन भी पापयुक्त न हो, तथा शरीर भी पापयुक्त न हो, किसी प्राणी का घात न करता हो, अमनस्क हो, मन, वचन, काया और वाक्य के द्वारा भी विचार से रहित हो, स्वप्न में भी (पाप) न देखता हो, तो भी (वह) पापकर्म करता है ।' जो इस प्रकार कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं ।

इस सम्बन्ध में प्रज्ञापक ने प्रेरक से कहा–जो मैंने पहले कहा था कि मन पापयुक्त न हो, वचन भी पाप-युक्त न हो, तथा काया भी पापयुक्त न हो, वह किसी प्राणी की हिंसा भी न करता हो, मनोविकल हो, चाहे वह मन, वचन, काया और वाक्य का समझ-बुझकर प्रयोग न करता हो, और वैसा (पापकारी) स्वप्न भी न देखता हो, ऐसा जीव भी पापकर्म करता है, वही सत्य है । ऐसे कथन के पीछे कारण क्या है ? आचार्य ने कहा–इस विषय में श्री तीर्थंकर भगवान ने षट्जीवनिकाय कर्मबन्ध के हेतु के रूप में बताए हैं । इन छह प्रकार के जीवनिकाय के जीवों की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिस आत्मा ने नष्ट नहीं किया, तथा भावी पाप को प्रत्याख्यान द्वारा रोका नहीं, बल्कि सदैव निष्ठुरतापूर्वक प्राणियों की घात में चित्त लगाए रखता है, और उन्हें दण्ड देता है तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यन्त तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापस्थानों से निवृत्त नहीं होता है ।

आचार्य पुनः कहते हैं–इसके विषय में भगवान महावीर ने वधक का दृष्टान्त बताया है–कोई हत्यारा हो, वह गृहपति की अथवा गृहपति के पुत्र की अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है । अवसर पाकर मैं घर में प्रवेश करूँगा और अवसर पाते ही प्रहार करके हत्या कर दूँगा । इस प्रकार वह हत्यारा दिन को या रात को, सोते या जागते प्रतिक्षण इसी उधेड़बुन में रहता है, जो उन सबका अमित्र भूत है, उन सबसे मिथ्या व्यवहार करने में जुटा हुआ है, जो चित्तरूपी दण्ड में सदैव विविध प्रकार से निष्ठुरतापूर्वक घात का दुष्ट विचार रखता है, क्या ऐसा व्यक्ति उन पूर्वोक्त व्यक्तियों का हत्यारा कहा जा सकता है, या नहीं ? आचार्यश्री के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर प्रेरक समभाव के साथ कहता है–''हाँ, पूज्यवर ! ऐसा पुरुष हत्यारा ही है ।''

आचार्य न कहा–जैसे उस गृहपति या गृहपति के पुत्र को अथवा राजा या राजपुरुष को मारना चाहने

वाला वह वधक पुरुष सोचता है कि मैं अवसर पाकर इसके मकान में प्रवेश करूँगा और मौका मिलते ही इस पर प्रहार कर वध कर दूँगा; ऐसे कुविचार से वह दिन-रात, सोते-जागते हरदम घात लगाये रहता है, सदा उनका शत्रु बना रहता है, मिथ्या कुकृत्य करने पर तुला हुआ है, विभिन्न प्रकार से उनके घात के लिए नित्य शठतापूर्वक दुष्टचित्त में लहर चलती रहती है, इसी तरह बाल जीव भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का दिन-रात, सोते या जागते सदा वैरी बना रहता है, मिथ्याबुद्धि से ग्रस्त रहता है, उन जीवों को नित्य निरन्तर शठतापूर्वक हनन करने की बात चित्त में जमाए रखता है, क्योंकि वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों में ओतप्रोत रहता है । इसीलिए भगवान ने ऐसे जीव के लिए कहा है कि वह असंयत, अविरत, पापकर्मों का नाश एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, पापक्रिया से युक्त, संवररहित, एकान्तरूप से प्राणियों को दण्ड देने वाल, सर्वथा बाल एवं सर्वथा सुप्त भी होता है । वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का विचारपूर्वक (पापकर्म में) प्रयोग न करता हो, भले ही वह स्वप्न भी न देखता हो, तो भी वह (अप्रत्याख्यानी होने के कारण) पापकर्म का बन्ध करता रहता है ।

जैसे वध का विचार करने वाला घातक पुरुष उस गृहपति या गृहपतिपुत्र की अथवा राजा या राजपुरुष की प्रत्येक की अलग हलग हत्या करने का दुर्विचार चित्त में लिये हुए अहर्निश, सोते या जागते उसी धुन में रहता है, वह उनका शत्रु-सा बना रहता है, उसके दिमाग में धोखे देने के दुष्ट विचार घर किये रहते हैं, वह सदैव उनकी हत्या करने की धुन में रहता है, शठतापूर्वक प्राणी-दण्ड के पुष्ट विचार ही चित्त में किया करता है, इसी तरह समस्त प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के, प्रत्येक के प्रति चित्त में निरन्तर हिंसा के भाव रखने वाला और प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापस्थानों से अविरत, अज्ञानी जीव दिन-रात, सोते या जागते सदैव उन प्राणियों का शत्रु-सा बना रहता है, उन्हें धोखे से मारने का दुष्ट विचार करता है, एवं नित्य उन जीवों के शठतापूर्वक घात की बात चित्त में घोटता रहता है । स्पष्ट है कि ऐसे अज्ञानी जीव जब तक प्रत्याख्यान नहीं करते, तब तक वे पापकर्म से जरा भी विरत नहीं होते, इसलिए पापकर्म का बन्ध होता रहता है ।

सूत्र - ७०२

प्रेरक ने एक प्रतिप्रश्न उठाया–इस जगत में बहुत-से ऐसे प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व हैं, उनके शरीर के प्रमाण को न कभी देखा है, न ही सूना है, वे प्राणी न तो अपने अभिमत हैं, और न वे ज्ञात हैं । इस कारण ऐसे समस्त प्राणियों में से प्रत्येक प्राणी के प्रति हिंसामय चित्त रखते हुए दिन-रात, सोते या जागते उनका अमित्र (बना रहना, तथा उनके साथ मिथ्या व्यवहार करने में संलग्न रहना, एवं सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त रखना सम्भव नहीं है, इसी तरह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापों में ऐसे प्राणियों का लिप्त रहना भी सम्भव नहीं है ।

सूत्र - ७०३

आचार्य ने कहा–इस विषय में भगवान महावीर स्वामी ने दो दृष्टान्त कहे हैं, एक संज्ञिदृष्टान्त और दूसरा असंज्ञिदृष्टान्त । (प्रश्न–) यह संज्ञी का दृष्टान्त क्या है ? (उत्तर–) संज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है–जो ये प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव हैं, इनमें पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षड्जीवनिकाय के जीवों में से यदि कोई पुरुष पृथ्वीकाय से ही अपना आहारादि कृत्य करता है, कराता है, तो उसके मनमें ऐसा विचार होता है कि मैं पृथ्वीकाय से अपना कार्य करता भी हूँ और कराता भी हूँ, उसे उस समय ऐसा विचार नहीं होता कि वह इस या इस (अमुक) पृथ्वी (काय) से ही कार्य करता है, कराता है, सम्पूर्ण पृथ्वी से नहीं । वह पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है और कराता है । इसलिए वह व्यक्ति पृथ्वीकाय का असंयमी, उससे अविरत, तथा उसकी हिंसा का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है । इसी प्रकार त्रसकाय तक के जीवों के विषय में कहना चाहिए । यदि कोई व्यक्ति छह काया के जीवों से कार्य करता है, कराता भी है, तो वह यही विचार करता है कि मैं छह काया के जीवों से कार्य करता हूँ, कराता भी हूँ । उस व्यक्ति को ऐसा विचार नहीं होता कि वह अमुक-अमुक जीवों से ही

कार्य करता और कराता है, क्योंकि वह सामान्यरूप से उन छहों जीवनिकायों से कार्य करता है और कराता भी है इस कारण वह प्राणी उन छहों जीवनिकायों के जीवों की हिंसा से असंयत, अविरत है, और उनकी हिंसा आदि से जनित पापकर्मों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है । इस कारण वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के सभी पापों का सेवन करता है । तीर्थंकर भगवान ने ऐसे प्राणी को असंयत, अविरत, पापकर्मों का नाश तथा प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला कहा है । चाहे वह प्राणी स्वप्न भी न देखता हो, तो भी वह पापकर्म करता है।

(प्रश्न–) 'वह असंज्ञीदृष्टान्त क्या है?' (उत्तर–) असंज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है–'पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों तक पाँच स्थावर एवं छठे जो त्रससंज्ञक अमनस्क जीव हैं, वे असंज्ञी हैं, जिनमें न तर्क है, न संज्ञा है, न प्रज्ञा है, न मन है, न वाणी है और जो न तो स्वयं कर सकते हैं और न ही दूसरे से करा सकते हैं, और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं; तथापि वे अज्ञानी प्राणी भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के दिन-रात सोते या जागते हर समय शत्रु-से बने रहते हैं, उन्हें धोखा देने में तत्पर रहते हैं, उनके प्रति सदैव हिंसात्मक चित्तवृत्ति रखते हैं, इसी कारण वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापस्थानों में सदा लिप्त रहते हैं । इस प्रकार यद्यपि असंज्ञी जीवों के मन नहीं होता, और न ही वाणी होती है, तथापि वे समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख देने, शोक उत्पन्न करने, विलाप कराने, रुलाने, पीड़ा देने, वध करने, तथा परिताप देने अथवा उन्हें एक ही साथ दुःख, शोक, विलाप, रुदन, पीड़न, संताप, वध-बन्धन, परिक्लेश आदि करने से विरत नहीं होते, अपितु पापकर्म में सदा रत रहते हैं । इस प्रकार वे प्राणी असंज्ञी होते हुए भी अहर्निश प्राणातिपात में मृषावाद आदि से लेकर परिग्रह तक में तथा मिथ्यादर्शन शल्य तक के समस्त पापस्थानों में प्रवृत्त कहे जाते हैं ।

सभी योनियों के प्राणी निश्चित रूप से संज्ञी होकर असंज्ञी हो जाते हैं, तथा असंज्ञी होकर संज्ञी हो जाते हैं। वे संज्ञी या असंज्ञी होकर यहाँ पापकर्मों को अपने से अलग न करके, तथा उन्हें न झाड़कर उनका उच्छेद न करके तथा उनके लिए पश्चात्ताप न करके वे संज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में आते हैं, अथवा संज्ञी के शरीर से असंज्ञी के शरीर में संक्रमण करते हैं, अथवा असंज्ञीकाय से संज्ञीकाय में संक्रमण करते हैं अथवा असंज्ञी की काया से असंज्ञी की काया में आते हैं । जो ये संज्ञी अथवा असंज्ञी प्राणी होते हैं, वे सब मिथ्याचारी और सदैव शठतापूर्ण हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करते हैं । अतएव वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक पापस्थानों का सेवन करने वाले हैं । इसी कारण से ही भगवान महावीर ने इन्हें असंयत, अविरत, पापों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान न करने वाले, अशुभक्रियायुक्त, संवररहित, एकान्त हिंसक, एकान्त बाल और एकान्त सुप्त कहा है । वह अज्ञानी जीव भले ही मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, तथा (हिंसा का) स्वप्न भी न देखता हो, फिर भी पापकर्म (का बन्ध) करता रहता है ।

सूत्र - ७०४

(प्रेरक ने पुनः कहा) मनुष्य क्या करता हुआ, क्या कराता हुआ तथा कैसे संयत, विरत तथा पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है ? आचार्य ने कहा–इस विषय में तीर्थंकर भगवान ने षड् जीवनि-कायों को (संयम अनुष्ठान का) कारण बताया है । वे छह प्राणीसमूह इस प्रकार हैं–पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीव । जैसे कि किसी व्यक्ति द्वारा डंडे से, हड्डियों से, मुक्कों से, ढेले से या ठीकरे से मैं ताड़न किया जाऊं या पीड़ित किय जाऊं, यहाँ तक कि मेरा केवल एक रोम उखाड़ा जाए तो मैं हिंसाजनि दुःख, भय और असाता का अनुभव करता हूँ, इसी तरह जानना चाहिए कि समस्त प्राणी यावत् सभी सत्त्व डंडे आदि से लेकर ठीकरे तक से मारे जाने पर एवं पीड़ित किये जाने पर, यहाँ तक कि एक रोम भी उखाड़े जाने पर हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करते हैं । ऐसा जानकर समस्त प्राणियों यावत् सभी सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, यहाँ तक कि उन्हें पीड़ित नहीं करना चाहिए । यह धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, तथा लोक के स्वभाव को सम्यक् जानकर खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ तीर्थंकरदेवों द्वारा प्रतिपादित है ।

यह जानकर साधु प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापस्थानों से विरत होता है । वह साधु दाँत साफ करने वाले काष्ठ आदि से दाँत साफ न करे; तथा नेत्रों में अंजन न लगाए, न दवा लेकर वमन करे, और न ही धूप के द्वारा अपने वस्त्रों या केशों को सुवासित करे । वह साधु सावद्यक्रियारहित, हिंसारहित, क्रोध मान, मया और लोभ से रहित, उपशान्त एवं पाप से निवृत्त होकर रहे । ऐसे त्यागी प्रत्याख्यानी साधु को तीर्थंकर भगवान ने संयत, विरत, पापकर्मों का प्रतिघातक, एवं प्रत्याख्यानकर्ता, अक्रिय, संवृत और एकान्त पण्डित कहा है । (जो भगवान ने कहा है) वही मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-४ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-५ – आचारश्रुत

सूत्र - ७०५

आशुप्रज्ञ साधक इस अध्ययन के वाक्य तथा ब्रह्मचर्य को धारण करके इस धर्म में अनाचार का आचरण कदापि न करे ।

सूत्र - ७०६

'यह लोक अनादि और अनन्त है,' यह जानकर विवेकी पुरुष यह लोक एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य, इस प्रकार की दृष्टि, एकान्त (बुद्धि) न रखे ।

सूत्र - ७०७

इन दोनों (एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य) पक्षों से व्यवहार चल नहीं सकता । अतः इन दोनों एकान्त पक्षों के आश्रय को अनाचार जानना चाहिए ।

सूत्र - ७०८

प्रशास्ता भावोच्छेद कर लेंगे । अथवा सभी जीव परस्पर विसदृश हैं, बद्ध रहेंगे, शाश्वत रहेंगे, इत्यादि एकान्त वचन नहीं बोलने चाहिए ।

सूत्र - ७०९

क्योंकि इन दोनों पक्षों से (शास्त्रीय या लौकिक) व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तपक्षों के ग्रहण को अनाचार समझना चाहिए ।

सूत्र - ७१०

जो क्षुद्र प्राणी है, अथवा जो महाकाय प्राणी है, इन दोनों प्राणियों के साथ समान ही वैर होता है, अथवा नहीं होता; ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

सूत्र - ७११

क्योंकि इन दोनों ('समान वैर होता है या नहीं होता') एकान्तमय वचनों से व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तवचनों को अनाचार जानना चाहिए ।

सूत्र - ७१२

आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि का जो साधु उपभोग करते हैं, वे दोनो परस्पर अपने कर्म से उपलिप्त होते हैं, अथवा उपलिप्त नहीं होते, ऐसा जानना चाहिए ।

सूत्र - ७१३

इन दोनों एकान्त मान्यताओं से व्यवहार नहीं चलता है, इसलिए इन दोनों एकान्त मन्तव्यों का आश्रय लेना अनाचार समझना चाहिए ।

सूत्र - ७१४

यह जो औदारिक, आहारक, कार्मण, वैक्रिय एवं तैजस शरीर हैं, ये पाँचों शरीर एकान्ततः भिन्न नहीं हैं, अथवा सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं, तथा सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति विद्यमान है, अथवा नहीं ही है; ऐसा एकान्तकथन भी नहीं करना चाहिए ।

सूत्र - ७१५

क्योंकि इन दोनों प्रकार के एकान्त विचारों से व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तमय विचारों का प्ररूपण करना अनाचार समझना चाहिए ।

सूत्र - ७१६

लोक नहीं है या अलोक नहीं है ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए अपितु लोक है और अलोक है, ऐसी संज्ञा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७१७

जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं, ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु जीव और अजीव पदार्थ हैं, ऐसी संज्ञा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७१८

धर्म-अधर्म नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु धर्म भी है और अधर्म भी है ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७१९

बन्ध और मोक्ष नहीं है, यह नहीं मानना चाहिए, अपितु बन्ध है और मोक्ष भी है, यह श्रद्धा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२०

पुण्य और पाप नहीं है, ऐसी बुद्धि रखना उचित नहीं, अपितु पुण्य भी है और पाप भी है, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२१

आश्रव और संवर नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, अपितु आश्रव भी है, संवर भी है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२२

वेदना और निर्जरा नहीं है, ऐसी मान्यता रखना ठीक नहीं है, किन्तु वेदना और निर्जरा है, यह मान्यता रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२३

क्रिया और अक्रिया नहीं है, ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रिया भी है, अक्रिया भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२४

क्रोध और मान नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रोध भी है, और मान भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२५

माया और लोभ नहीं है, इस प्रकार की मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु माया है और लोभ भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२६

राग और द्वेष नहीं है, ऐसी विचारणा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु राग और द्वेष हैं, ऐसी विचारणा रखनी चाहिए।

सूत्र - ७२७

चार गति वाला संसार नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, अपितु चातुर्गति संसार है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२८

देवी और देव नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु देव-देवी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७२९

सिद्धि या असिद्धि नहीं है, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए, अपितु सिद्धि भी है और असिद्धि भी है, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७३०

सिद्धि जीव का निज स्थान नहीं है, ऐसी खोटी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत सिद्धि जीव का निज-स्थान है, ऐसा सिद्धान्त मानना चाहिए ।

सूत्र - ७३१

साधु नहीं है और असाधु नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत साधु और असाधु दोनों हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७३२

कोई भी कल्याणवान और पापी नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, अपितु कल्याणवान एवं पापात्मा दोनों हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

सूत्र - ७३३

यह व्यक्ति एकान्त कल्याणवान है, और यह एकान्त पापी है, ऐसा व्यवहार नहीं होता, (तथापि) बाल-पण्डित श्रमण कर्मबन्धन नहीं जानते ।

सूत्र - ७३४

जगत के अशेष पदार्थ अक्षय हैं, अथवा एकान्त अनित्य हैं, तथा सारा जगत एकान्तरूप से दुःखमय है, एवं अमुक प्राणी वध्य हैं, अमुक अवध्य हैं, ऐसा वचन भी साधु को (मुँह से) नहीं नीकालना चाहिए ।

सूत्र - ७३५

साधुतापूर्वक जीने वाले, सम्यक् आचारवंत निर्दोष भिक्षाजीवी साधु दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए कि साधुगण कपट से जीविका करते हैं ।

सूत्र - ७३६

मेघावी साधु को ऐसा कथन नहीं करना चाहिए कि दान का प्रतिलाभ अमुक से होता है, अमुक से नहीं होता, अथवा तुम्हें आज भिक्षालाभ होगा या नहीं ? किन्तु जिससे शान्ति की वृद्धि होती है, ऐसा वचन कहना चाहिए ।

सूत्र - ७३७

इस प्रकार इस अध्ययन में जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट या उपलब्ध स्थानों के द्वारा अपने आपको संयम में स्थापित करता हुआ साधु मोक्ष प्राप्त होने तक (पंचाचार पालन में) प्रगति करे । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-५ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-६ – आर्द्रकीय

सूत्र – ७३८, ७३९

(गोशालक ने कहा–) हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी ने पहले जो आचरण किया था, उसे सूनो । पहले वे एकान्त विचरण करते थे और तपस्वी थे । अब वे अनेक भिक्षुओं को साथ रख कर पृथक्-पृथक् विस्तार से धर्मो-पदेश देते हैं । ..... उस अस्थिर महावीर ने यह तो अपनी आजीविका बना ली है । वह जो सभा में जाकर अनेक भिक्षुगण के बीच बहुत-से लोगों के हित के लिए धर्मोपदेश देते हैं, उनका वर्तमान व्यवहार उनके पूर्व व्यवहार से मेल नहीं खाता ।

सूत्र - ७४०

इस प्रकार या तो महावीरस्वामी का पहला व्यवहार एकान्त विचरण ही अच्छा हो सकता है, अथवा इस समय का अनेक लोगों के साथ रहने का व्यवहार ही अच्छा हो सकता है । किन्तु परस्पर विरुद्ध दोनों आचरण अच्छे नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है । (गोशालक के आक्षेप का आर्द्रकमुनि ने इस प्रकार समाधान किया–) श्रमण भगवान महावीर पूर्वकाल में, वर्तमान काल में और भविष्यत् काल में (सदैव) एकान्त का ही अनुभव करते हैं । अतः उनके आचरण में परस्पर मेल है ।

सूत्र - ७४१

बारह प्रकार की तपःसाधना द्वारा आत्मशुद्धि के लिए श्रम करने वाले (श्रमण) एवं 'जीवों को मत मारो' का उपदेश देने वाले भ० महावीर स्वामी समग्र लोक को यथावस्थित जानकर त्रस-स्थावर जीवों के क्षेम के लिए हजारों लोगों के बीच में धर्मोपदेश करते हुए भी एकान्तवास की साधना कर लेते हैं । क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति उसी प्रकार की बनी रहती है ।

सूत्र - ७४२

श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश करनेवाले भगवान महावीर को कोई दोष नहीं होता, क्योंकि क्षान्त, दान्त और जितेन्द्रिय तथा भाषादोषों को वर्जित करनेवाले भगवान महावीर द्वारा भाषा का सेवन किया जाना गुणकर है

सूत्र - ७४३

कर्मों से सर्वथा रहित हुए श्रमण भगवान महावीर श्रमणों के लिए पंच महाव्रत तथा (श्रावकों के लिए) पाँच अणुव्रत एवं पाँच आश्रवों और संवरों का उपदेश देते हैं । तथा श्रमणत्व के पालनार्थ वे विरति का उपदेश करते हैं, यह मैं कहता हूँ ।

सूत्र - ७४४

(गोशालक ने आर्द्रक मुनि से कहा–) कोई शीतल जल, बीजकाय, आधाकर्म तथा स्त्रियों का सेवन भले ही करता हो, परन्तु जो एकान्त विचरण करने वाला तपस्वी साधक है, उसे हमारे धर्म में पाप नहीं लगता ।

सूत्र - ७४५

(आर्द्रक मुनि ने प्रतिवाद किया–) सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्म तथा स्त्रियाँ, इनका सेवन करने वाला गृहस्थ होता है, श्रमण नहीं हो सकता ।

सूत्र - ७४६

बीजकाय, सचित्त जल एवं स्त्रियों का सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हों तो गृहस्थ भी श्रमण क्यों नहीं माने जाएंगे ? वे भी पूर्वोक्त विषयों का सेवन करते हैं ।

सूत्र - ७४७

(अतः) जो भिक्षु होकर भी सचित्त, बीजकाय, (सचित्त) जल एवं आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि का उपभोग करते हैं, वे केवल जीविका के लिए भिक्षावृत्ति करते हैं । वे अपने ज्ञातिजनों का संयोग छोड़कर भी अपनी काया के ही पोषक हैं, वे अपने कर्मों का या जन्म-मरण रूप संसार का अन्त करने वाले नहीं हैं ।

सूत्र - ७४८

(गोशालक ने पुनः कहा–) हे आर्द्रक ! इस वचन को कहकर तुम समस्त प्रावादुकों की निन्दा करते हो । प्रावादुकगण अपने-अपने धर्म-सिद्धान्तों की पृथक्-पृथक् व्याख्या करते हुए अपनी-अपनी दृष्टि प्रकट करते हैं ।

सूत्र – ७४९-७५१

(आर्द्रक मुनि गोशालक से कहते हैं–) वे श्रमण और ब्राह्मण एक-दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं । अपने धर्ममें कथित अनुष्ठान से ही पुण्य धर्म या मोक्ष होना कहते हैं, दूसरे धर्ममें कथित क्रिया के अनुष्ठान से नहीं । हम उनकी दृष्टि की निन्दा करते हैं, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं ।

हम किसी के रूप, वेष आदि की निन्दा नहीं करते, अपितु हम अपनी दृष्टि से पुनीत मार्ग को अभिव्यक्त करते हैं । यह मार्ग अनुत्तर है, और आर्य सत्पुरुषों ने इसे ही निर्दोष कहा है ।

ऊर्ध्वदिशा अधोदिशा एवं तिर्यक् दिशाओं में जो जो त्रस या स्थावर प्राणी हैं, उन प्राणीयों की हिंसा से धृणा करनेवाले संयमी पुरुष इस लोकमें किसी की निन्दा नहीं करते ।

सूत्र – ७५२, ७५३

(गोशालक ने आर्द्रकमुनि से कहा–) तुम्हारे श्रमण (महावीर) अत्यन्त भीरु हैं, इसीलिए पथिकागारों में तथा आरामगृहों में निवास नहीं करते, उक्त स्थानों में बहुत-से मनुष्य ठहरते हैं, जिनमें कोई कम या कोई अधिक वाचाल होता है, कोई मौनी होते हैं । कईं मेघावी, कईं शिक्षा प्राप्त, कईं बुद्धिमान औत्पात्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न तथा कईं सूत्रों और अर्थों के पूर्णरूप से निश्चयज्ञ होते हैं । अतः दूसरे अनगार मुझ से कोई प्रश्न न पूछ बैठें, इस प्रकार की आशंका करते हुए वे वहाँ नहीं जाते ।

सूत्र – ७५४, ७५५

(आर्द्रक मुनि ने कहा) भगवान महावीर अकामकारी नहीं है और न ही वे बालकों की तरह कार्यकारी हैं । वे राजभय से भी धर्मोपदेश नहीं करते, फिर अन्य भय से करने की तो बात ही कहाँ ? भगवान प्रश्न का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते । वे इस जगत में आर्य लोगों के लिए तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म के क्षय के लिए धर्मोपदेश करते हैं । सर्वज्ञ भगवान महावीर वहाँ जाकर अथवा न जाकर समभाव से धर्मोपदेश करते हैं । परन्तु अनार्यलोग दर्शन भ्रष्ट होते हैं, इसलिए उनके पास नहीं जाते ।

सूत्र - ७५६

(गोशालक ने कहा–) जैसे लाभार्थी वणिक क्रय-विक्रय से आय के हेतु संग करता है, यही उपमा श्रमण के लिए है; ये ही वितर्क मेरी बुद्धि में उठते हैं ।

सूत्र – ७५७, ७५८

(आर्द्रक मुनि ने कहा) भगवान महावीर नवीन कर्म (बन्ध) नहीं करते, अपितु वे पुराने कर्मों का क्षय करते हैं । (क्योंकि) वे स्वयं यह कहते हैं कि प्राणी कुबुद्धि का त्याग करके ही मोक्ष को प्राप्त करता है । इसी दृष्टि से इसे ब्रह्म-पद कहा गया है । उसी मोक्ष के लाभार्थी भगवान महावीर हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ।

(ओर हे गोशालक !) वणिक् प्राणीसमूह का आरम्भ करते हैं, तथा परिग्रह पर ममत्व भी रखते हैं, एवं वे ज्ञातिजनों के साथ ममत्वयुक्त संयोग नहीं छोड़ते हुए, आय के हेतु दूसरों से भी संग करते हैं ।

सूत्र – ७५९, ७६०

वणिक् धन के अन्वेषक और मैथुन में गाढ़ आसक्त होते हैं, तथा वे भोजन की प्राप्ति के लिए इधर-उधर जाते रहते हैं । अतः हम तो ऐसे वणिकों को काम-भोगों में अत्यधिक आसक्त, प्रेम के रस में गृद्ध और अनार्य कहते हैं । वणिक् आरम्भ और परिग्रह का व्युत्सर्ग नहीं करते, उन्हीं में निरन्तर बंधे हुए रहते हैं और आत्मा को दण्ड देते रहते हैं । उनका वह उदय, जिससे आप उदय बता रहे हैं, वस्तुतः उदय नहीं है बल्कि वह चातुर्गतिक अनन्त संसार या दुःख के लिए होता है । वह उदय है ही नहीं, होता भी नहीं ।

सूत्र - ७६१

पूर्वोक्त सावद्य अनुष्ठान से वणिक् का जो उदय होता है वह न तो एकान्तिक है और न आत्यन्तिक । विद्वान लोग कहते हैं कि जो उदय इन दोनों गुणों से रहित है, उसमें कोई गुण नहीं है । किन्तु भगवान महावीर को जो उदय प्राप्त है, वह आदि और अनन्त है । त्राता एवं ज्ञातवंशीय या समस्त वस्तुजात के ज्ञाता भगवान महावीर इसी उदय का दूसरों को उपदेश करते हैं, या इसकी प्रशंसा करते हैं ।

सूत्र - ७६२

भगवान प्राणीयों की हिंसा से सर्वथा रहित हैं, तथा समस्त प्राणीयों पर अनुकम्पा करते हैं । वे धर्म में सदैव स्थित हैं । ऐसे कर्मविवेक के कारणभूत वीतराग को, आप जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले ही वणिक् सदृश कहते हैं । यह आपके अज्ञान के अनुरूप ही है ।

सूत्र - ७६३

(शाक्यभिक्षु आर्द्रक मुनि से कहने लगे–) कोई व्यक्ति खलो के पिण्ड को 'यह पुरुष है' यों मानकर शूल से बींधकर पकाए अथवा तुम्बे को कुमार मान कर पकाए तो हमारे मत में वह प्राणीवध के पाप से लिप्त होता है ।

सूत्र - ७६४

अथवा वह म्लेच्छ मनुष्य को खली समझकर उसे शूल में बींध कर, अथवा कुमार को तुम्बा समझकर पकाए तो वह प्राणीवध के पाप से लिप्त नहीं होता ।

सूत्र - ७६५

कोई पुरुष मनुष्य को या बालक को खली का पिण्ड मानकर उसे शूल में बींधकर आग में पकाए तो वह पवित्र है, बुद्धों के पारणे के योग्य है ।

सूत्र - ७६६

जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है, वह महान पुण्यराशि का उपार्जन करके महापराक्रमी आरोप्य नामक देव होता है ।

सूत्र – ७६७, ७६८

(आर्द्रक मुनिने बौद्ध भिक्षुओं को कहा) आपके इस सिद्धान्त संयमियों के लिए अयोग्यरूप हैं । प्राणीयों का घात करने पर पाप नहीं होता, जो ऐसा कहते, सूनते या मान लेते हैं; वह अबोधिलाभ का कारण है और बूरा है 'ऊंची, नीची और तीरछी दिशाओंमें त्रस और स्थावर जीवों के अस्तित्व का लिंग जानकर जीवहिंसा की आशंका से विवेकी पुरुष हिंसा से धृणा करता हुआ विचार कर बोले या कार्य करे तो उसे पाप-दोष कैसे हो सकता है ?

सूत्र - ७६९

जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि रखता है, वह अनार्य है । खली के पिण्ड में पुरुष की बुद्धि कैसे सम्भव है ? अतः आपके द्वारा कही हुई यह वाणी भी असत्य है ।

सूत्र - ७७०

जिस वचन के प्रयोग से जीव पापकर्म का उपार्जन करे, ऐसा वचन कदापि नहीं बोलना चाहिए । (प्रव्रजितों के लिए) यह वचन गुणों का स्थान नहीं है । अतः दीक्षित व्यक्ति ऐसा निःसार वचन नहीं बोलता ।

सूत्र - ७७१

तुमने ही पदार्थों को उपलब्ध कर लिया है । जीवों के कर्मफल का अच्छी तरह चिन्तन किया है । तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैल गया है । तुमने ही करतलमें पदार्थ समान इस जगत को देख लिया है

सूत्र - ७७२

साधु जीवों की पीड़ा का सम्यक् चिन्तन करके आहार ग्रहण करने की विधि से शुद्ध आहार स्वीकार करते हैं; वे कपट से जीविका करने वाले बनकर मायामय वचन नहीं बोलते । संयमी पुरुषों का यही धर्म है ।

सूत्र - ७७३

जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार स्नातक भिक्षुओं को (पूर्वोक्त मांसपिण्ड का) भोजन कराता है, वह असंयमी रक्त से रंगे हाथ वाला पुरुष इसी लोक में निन्दापात्र होता है ।

सूत्र - ७७४

आपके मत में बुद्धानुयायी जन एक बड़े स्थूल भेड़े को मारकर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के उद्देश्य से कल्पित कर उसको नमक और तेल के साथ पकाते हैं, फिर पिप्पली आदि द्रव्यों से बघार कर तैयार करते हैं ।

सूत्र - ७७५

अनार्यों के-से स्वभाव वाले अनार्य, एवं रसों में गृद्ध वे अज्ञानी बौद्धभिक्षु कहते हैं कि बहुत-सा माँस खाते हुए भी हम लोग पापकर्म से लिप्त नहीं होते ।

सूत्र - ७७६

जो लोग इस प्रकार के माँस का सेवन करते हैं, वे तत्त्व को नहीं जानते हुए पाप का सेवन करते हैं । जो पुरुष कुशल हैं, वे ऐसे माँस खाने की ईच्छा भी नहीं करते । माँस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है ।

सूत्र - ७७७

समस्त जीवों की दया के लिए, सावद्यदोष से दूर रहने वाले तथा सावद्य की आशंका करने वाले, ज्ञात-पुत्रीय ऋषिगम उद्दिष्ट भक्त का त्याग करते हैं ।

सूत्र - ७७८

प्राणीयों के उपमर्दन को आशंका से, सावद्य अनुष्ठान से विरक्त रहने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण समस्त प्राणीयों को दण्ड देने का त्याग करते हैं, इसलिए वे (दोषयुक्त) आहारादि का उपभोग नहीं करते । संयमी साधकों का यही परम्परागत धर्म है ।

सूत्र - ७७९

इस निर्ग्रन्थधर्म में इस समाधि में सम्यक् प्रकार से स्थित होकर मायारहित होकर इस निर्ग्रन्थ धर्म में जो विचरण करता है, वह प्रबुद्ध मुनि शील और गुणों से युक्त होकर अत्यन्त पूजा-प्रशंसा प्राप्त करता है ।

सूत्र - ७८०

ब्राह्मणगण कहने लगे–(हे आर्द्रक !) जो प्रति-दिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता है, वह महान पुण्यपुञ्ज उपार्जित करके देव होता है, यह वेद का कथन है ।

सूत्र - ७८१

(आर्द्रक ने कहा–) क्षत्रिय आदि कुलों में भोजन के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन भोजन कराता है, वह व्यक्ति मांसलोलुप प्राणीयों से व्याप्त नरक में जाकर निवास करता है, जहाँ वह तीव्रतम ताप भोगता है ।

सूत्र - ७८२

दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो नृप एक भी कुशील ब्राह्मण को भोजन कराता है, वह अन्धकारयुक्त नरक में जाता है, फिर देवों में जाने की तो बात ही क्या है ?

सूत्र - ७८३

(सांख्यमतवादी एकदण्डीगण आर्द्रकमुनि से कहने लगे–) आप और हम दोनों ही धर्म में सम्यक् प्रकार से उत्थित हैं । तीनों कालों में धर्म में भलीभाँति स्थित हैं । (हम दोनों के मत में) आचारशील पुरुष को ही ज्ञानी कहा गया है । आपके और हमारे दर्शन में 'संसार' के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

सूत्र - ७८४

यह पुरुष (जीवात्मा) अव्यक्तरूप (मन और इन्द्रियों से अगोचर) है, तथा यह सर्वलोकव्यापी सनातन

अक्षय एवं अव्यय है । यह जीवात्मा समस्त भूतों में सम्पूर्ण रूप से उसी तरह रहता है, जिस तरह चन्द्रमा समस्त तारागण के साथ सम्पूर्ण रूप से रहता है ।

सूत्र - ७८५

(आर्द्रक मुनि कहते हैं–) इस प्रकार (आत्मा को एकान्त नित्य एवं सर्वव्यापक) मानने पर संगति नहीं हो सकती और जीव का संसरण भी सिद्ध नहीं हो सकता । और न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य रूप भेद ही सिद्ध हो सकते हैं । तथा कीट, पक्षी, सरीसृप इत्यादि योनियों की विविधता भी सिद्ध नहीं हो सकती । इसी प्रकार मनुष्य, देवलोक के देव आदि सब गतियाँ भी सिद्ध नहीं होंगी ।

सूत्र - ७८६

इस लोक को केवलज्ञान के द्वारा न जानकर अनभिज्ञ जो व्यक्ति धर्म का उपदेश करते हैं, वे स्वयं नष्ट जीव अपने आप का और दूसरे को भी अपार तथा भयंकर संसार में नाश कर देते हैं ।

सूत्र - ७८७

परन्तु जो व्यक्ति समाधियुक्त है, वे पूर्ण केवलज्ञान द्वारा इस लोक को विविध प्रकार से यथावस्थित रूप से जान पाते हैं, समस्त धर्म का प्रतिपादन करते हैं । स्वयं संसारसागर से पार हुए पुरुष दूसरों को भी संसार सागर से पार करते हैं ।

सूत्र - ७८८

इस लोक में जो व्यक्ति निन्दनीय स्थान का सेवन करते हैं, और जो साधक उत्तम आचरणों से युक्त हैं, उन दोनों के अनुष्ठानों को असर्वज्ञ व्यक्ति अपनी बुद्धि से एक समान बतलाते हैं । अथवा हे आयुष्मन् ! वे विपरीत-प्ररूपणा करते हैं ।

सूत्र - ७८९

अन्त में हस्तितापस आर्द्रकमुनि से कहते हैं–हम लोग शेष जीवों की दया के लिए वर्ष में एक बड़े हाथी को बाण से मारकर वर्षभर उसके माँस से अपना जीवनयापन करते हैं ।

सूत्र - ७९०

(आर्द्रकमुनि कहते हैं–) जो वर्षभर में भी एक प्राणी को मारे, वे भी दोषों से निवृत्त नहीं है । क्योंकि शेष जीवों के वध में प्रवृत्त न होने के कारण थोड़े-से जीवों को हनन करने वाले गृहस्थ भी दोषरहित क्यों नहीं माने जाएंगे ?

सूत्र - ७९१

जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्षभर में एक-एक प्राणी को मारता है, उस पुरुष को अनार्य कहा गया है । ऐसे पुरुष केवलज्ञानी नहीं हो पाते ।

सूत्र - ७९२

तत्त्वदर्शी भगवान की आज्ञा से इस समाधियुक्त धर्म को अंगीकार करके तथा सम्यक् प्रकार से सुस्थित होकर तीनों करणों से विरक्ति रखता हुआ साधक आत्मा का त्राता बनता है । अतः महादुस्तर समुद्र की तरह संसारसमुद्र को पार करने के लिए आदानरूप धर्म का निरूपण एवं ग्रहण करना चाहिए । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-६ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

अध्ययन-७ – नालंदीय

सूत्र - ७९३

धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर महावीर के उस काल में तथा उस समय में राजगृह नामका नगर था । वह ऋद्ध, स्तिमित तथा समृद्ध था, यावत् बहुत ही सुन्दर था । उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग में नालन्दा नामकी बाहिरिका-उपनगरी थी । वह अनेक-सैकड़ों भवनों से सुशोभित थी, यावत् प्रतिरूप थी ।

सूत्र - ७९४

उस नालन्दा नामक बाहिरिका में लेप नामक एक गाथापति रहता था, वह बड़ा ही धनाढ्य, दीप्त और प्रसिद्ध था । वह विस्तीर्ण विपुल भवनों, शयन, आसन, यान एवं वाहनों से परिपूर्ण था । उसके पास प्रचुर धन सम्पत्ति व बहुत-सा सोना एवं चाँदी थी । वह धनार्जन के उपायों का ज्ञाता और अनेक प्रयोगों में कुशल था । उसके यहाँ से बहुत-सा आहार-पानी लोगों को वितरित किया जाता था । वह बहुत-से दासियों, दासों, गायों, भैंसों और भेड़-बकरियों का स्वामी था । तथा अनेक लोगों से भी पराभव नहीं पाता था ।

वह लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक भी था । वह जीव अजीव का ज्ञाता था । आश्रव-संवर, वेदना, निर्जरा, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के तत्त्वज्ञान में कुशल था । वह देवगणों से सहायता नहीं लेता था, न ही देवगण उसे धर्म से विचलित करने में समर्थ थे । वह लेप श्रमणोपासक था, अन्य दर्शनों की आकांक्षा या धर्माचरण की फलाकांक्षा से दूर था, उसे धर्माचरण के फल में कोई सन्देह न था, अथवा गुणी पुरुषों की निन्दा-जुगुप्सा से दूर रहता था । वह लब्धार्थ था, वह गृहीतार्थ था, वह पृष्टार्थ था, अतएव वह विनिश्चितार्थ था । वह अभिगृहीतार्थ था । धर्म या निर्ग्रन्थप्रवचन के अनुराग में उसकी हड्डियाँ और नसें (रगें) रंगी हुई थीं ।

'यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही सत्य है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त शेष सभी (दर्शन) अनर्थरूप हैं । उसका स्फटिकसम निर्मल यश चारों ओर फैला हुआ था । उसके घर का मुख्य द्वार याचकों के लिए खुला रहता था । राजाओं के अन्तःपुर में भी उसका प्रवेश निषिद्ध नहीं था इतना वह विश्वस्त था ।

वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पोषध का सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ श्रावकधर्म का आचरण करता था । वह श्रमणों को तथाविध शास्त्रोक्त ४२ दोषों से रहित निर्दोष एषणीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यरूप चतुर्विध के दान से प्रतिलाभित करता हुआ, बहुत से शील, गुणव्रत तथा हिंसादी से विरमणरूप अणुव्रत, तपश्चरण, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान एवं पोषधोपवास आदि से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ धर्माचरण में रत रहता था ।

सूत्र - ७९५

उस लेप गाथापति की वहीं शेषद्रव्या नाम की एक उदक शाला थी, जो राजगृह की बाहिरिका नालन्दा के बाहर उत्तरपूर्व-दिशा में स्थित थी । वह उदकशाला अनेक प्रकार के सैकड़ों खंभो पर टिकी हुई, मनोरम एवं अतीव सुन्दर थी । उस शेषद्रव्या नामक उदकशाला के ईशानकोण में हस्तियाम नामका एक वनखण्ड था । वह वनखण्ड कृष्णवर्ण-सा था । (शेष वर्णन औपपातिक-सूत्रानुसार जानना ।)

सूत्र - ७९६

उसी वनखण्ड के गृहप्रवेश में भगवान गौतम गणधर ने निवास किया । (एक दिन) भगवान गौतम उस वनखण्ड के अधोभाग में स्थित आराम में विराजमान थे । इसी अवसर में मेदार्यगोत्रीय एवं भगवान पार्श्वनाथ स्वामी का शिष्य-संतान निर्ग्रन्थ उदक पेढ़ालपुत्र जहाँ भगवान गौतम विराजमान थे, वहाँ उनके समीप आए । उन्होंने भगवान गौतमस्वामी के पास आकर सविनय यों कहा–''आयुष्मन् गौतम ! मुझे आपसे कोई प्रश्न पूछना है, आपने जैसा सूना है, या निश्चित किया है, वैसा मुझे विशेषवाद सहित कहें ।'' इस प्रकार विनम्र भाषा में पूछे जाने पर भगवान गौतम ने उदक पेढ़ालपुत्र से यों कहा–हे आयुष्मन् ! आपका प्रश्न सूनकर और उसके गुण-दोष का सम्यक् विचार करके यदि मैं जान जाऊंगा तो उत्तर दूँगा ।

सूत्र - ७९७

सद्‌वचनपूर्वक उदक पेढ़ालपुत्र ने भगवान गौतम स्वामी से कहा–''आयुष्मन् गौतम ! कुमारपुत्र नामके श्रमण निर्ग्रन्थ हैं, जो आपके प्रवचन का उपदेश करते हैं । जब कोई गृहस्थ श्रमणोपासक उनके समीप प्रत्याख्यान ग्रहण करने के लिए पहुँचता है तो वे उसे इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं–'राजा आदि के अभियोग के सिवाय गाथापति त्रस जीवों को दण्ड देने का त्याग है ।' परन्तु जो लोग इस प्रकार से प्रत्याख्यान करते हैं, उनका प्रत्या-ख्यान दुष्प्रत्याख्यान हो जाता है, तथा इस रीति से जो प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी दुष्प्रत्याख्यान करते हैं; क्योंकि इस प्रकार से दूसरे को प्रत्याख्यान कराने वाले साधक अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करते हैं । प्रतिज्ञाभंग किस कारण से हो जाता है ? (वह भी सून ले;) सभी प्राणी संसरणशील हैं । जो स्थावर प्राणी हैं, वे भविष्य में त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तथा जो त्रसप्राणी हैं, वे भी स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं । (अतः) त्रसप्राणी जब स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं, तब त्रसकाय के जीवों को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा किये उन पुरुषों द्वारा (स्थावरकाय में उत्पन्न होने से) वे जीव घात करने के योग्य हो जाते हैं ।

सूत्र - ७९८

किन्तु जो (गृहस्थ श्रमणोपासक) इस प्रकार प्रत्याख्यान करते हैं, उनका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है; तथा इस प्रकार से जो दूसरे को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते । वह प्रत्याख्यान इस प्रकार है–'राजा आदि के अभियोग को छोड़कर वर्तमान में त्रसभूत प्राणीयों को दण्ड देने का त्याग है ।' इसी तरह 'त्रस' पद के बाद 'भूत' पद लगा देने से ऐसे भाषापराक्रम के विद्यमान होने पर भी जो लोग क्रोध या लोभ के वश होकर दूसरे को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा भंग करते हैं; ऐसा मेरा विचार है । क्या हमारा यह उपदेश न्याय-संगत नहीं है ? आयुष्मान गौतम ! क्या आपको भी हमारा यह मन्तव्य रुचिकर लगता है?

सूत्र - ७९९

भगवान गौतम ने उदक पेढ़ालपुत्र निर्ग्रन्थ से सद्‌भावयुक्त वचन, या वाद सहित इस प्रकार कहा–'आयुष्मन् उदक ! हमें आपका इस प्रकार का यह मन्तव्य अच्छा नहीं लगता । जो श्रमण या माहन इस प्रकार कहते हैं, उपदेश देते हैं या प्ररूपणा करते हैं, वे श्रमण या निर्ग्रन्थ यथार्थ भाषा नहीं बोलते, अपितु वे अनुतापिनी भाषा बोलते हैं । वे लोग श्रमणों और श्रमणोपासकों पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, तथा जो प्राणीयों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के विषय में संयम करते-कराते हैं, उन पर भी वे दोषारोपण करते हैं । किस कारण से ? (सूनिए), समस्त प्राणी परिवर्तनशील होते हैं । त्रस प्राणी स्थावर के रूप में आते हैं, इसी प्रकार स्थावर जीव भी त्रस के रूप में आते हैं । अतः जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वे त्रसजीवघात-प्रत्याख्यानी पुरुषों द्वारा हनन करने योग्य नहीं होते ।

सूत्र - ८००

उदक पेढ़ालपुत्र ने सद्‌भावयुक्त वचनपूर्वक भगवान गौतम से इस प्रकार कहा–'आयुष्मन् गौतम ! वे प्राणी कौन-से हैं, जिन्हें आप त्रस कहते हैं ? आप त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हैं, या किसी दूसरे को ?' भगवान गौतम ने भी सद्‌वचनपूर्वक उदक पेढ़ालपुत्र से कहा–''आयुष्मन् उदक ! जिन प्राणीयों को आप त्रसभूत कहते हैं, उन्हीं को हम त्रसप्राणी कहते हैं और हम जिन्हें त्रसप्राणी कहते हैं, उन्हीं को आप त्रसभूत कहते हैं । ये दोनों ही शब्द एकार्थक हैं । फिर क्या कारण है कि आप आयुष्मान त्रसप्राणी को 'त्रसभूत' कहना युक्तियुक्त समझते हैं, और त्रसप्राणी को 'त्रस' कहना युक्तिसंगत नहीं समझते; जबकि दोनों समानार्थक हैं । ऐसा करके आप एक पक्ष की निन्दा करते हैं और एक पक्ष का अभिनन्दन करते हैं । अतः आपका यह भेद न्यायसंगत नहीं है ।

आगे भगवान गौतमस्वामी ने उदक पेढ़ालपुत्र से कहा–आयुष्मन् उदक ! जगत में कईं मनुष्य ऐसे होते हैं, जो साधु के निकट आकर उनसे पहले ही इस प्रकार कहते हैं–''भगवन् ! हम मुण्डित होकर अर्थात्–समस्त

प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा लेकर गृहत्याग करके आगार धर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होने में सभी समर्थ नहीं हैं, किन्तु हम क्रमशः साधुत्व का अंगीकार करेंगे, अर्थात्–पहले हम स्थूल प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करेंगे, उसके पश्चात् सूक्ष्म प्राणातिपात का त्याग करेंगे । तदनुसार वे मनमें ऐसा ही निश्चय करते हैं और ऐसा ही विचार प्रस्तुत करते हैं । तदनन्तर वे राजा आदि के अभियोग का आगार रखकर गृहपति-चोर-विमोक्षणन्याय से त्रस प्राणियों को दण्ड देने का त्याग करते हैं । वह (त्रस-प्राणिवध का) त्याग भी उन (श्रमणोपासकों) के लिए अच्छा ही होता है ।

सूत्र - ८०१

त्रस जीव भी त्रस सम्भारकृत कर्म के कारण त्रस कहलाते हैं । और वे त्रसनामकर्म के कारण ही त्रसनाम धारण करते हैं । और जब उनकी त्रस की आयु परीक्षिण हो जाती है तथा त्रसकाय में स्थितिरूप कर्म भी क्षीण हो जाता है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं; और त्रस का आयुष्य छोड़कर वे स्थावरत्व को प्राप्त करते हैं । स्थावर जीव भी स्थावरसम्भारकृत कर्म के कारण स्थावर कहलाते हैं; और वे स्थावरनामकर्म के कारण ही स्थावर नाम धारण करते हैं और जब उनकी स्थावर की आयु परिक्षीण हो जाती है, तथा स्थावरकाय में उनकी स्थिति की अवधि पूर्ण हो जाती है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं । वहाँ से उस आयु को छोड़कर पुनः वे त्रसभाव को प्राप्त करते हैं । वे जीव प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय भी होते हैं और चिरकाल तक स्थितिवाले भी ।

सूत्र - ८०२

(पुनः) उदक पेढ़ालपुत्र ने वादपूर्वक भगवान गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा–आयुष्मन् गौतम ! (मेरी समझ में) जीव की कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जिसे दण्ड न देकर श्रावक अपने एक भी प्राणी के प्राणातिपात से विरतिरूप प्रत्याख्यान को सफल कर सके ! उसका कारण क्या है ? (सूनिए) समस्त प्राणी परिवर्तनशील हैं, (इस कारण) कभी स्थावर प्राणी भी त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और कभी त्रसप्राणी स्थावर रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (ऐसी स्थिति में) वे सबके सब स्थावरकाय को छोड़कर त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, और कभी त्रसकाय को छोड़कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं । अतः स्थावरकाय में उत्पन्न हुए सभी जीव उन (त्रसकायजीववध-त्यागी) श्रावकों के लिए घात के योग्य हो जाते हैं ।

भगवान गौतम ने उदक पेढ़ालपुत्र से युक्तिपूर्वक कहा–आयुष्मन उदक ! हमारे वक्तव्य के अनुसार तो यह प्रश्न ही नहीं उठता आपके वक्तव्य के अनुसार (यह प्रश्न उठ सकता है), परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार थोड़ी देर के लिए मान ले कि सभी स्थावर एक ही काल में त्रस हो जाएंगे तब भी वह (एक) पर्याय (त्रसरूप) अवश्य है, जिसके रहते (त्रसघातत्यागी) श्रमणोपासक सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के घात का त्याग सफल होता है । इसका कारण क्या है ? (सूनिए), प्राणीगण परिवर्तनशील है, इसलिए त्रस प्राणी जैसे स्थावर के रूप उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्थावर प्राणी भी त्रस के रूप उत्पन्न हो जाते हैं ।

अतः जब वे सब त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वह स्थान (समस्त त्रसकायीय प्राणीवर्ग) श्रावकों के घातयोग्य नहीं होता । वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं । वे विशालकाय भी होते हैं और चिरकाल तक की स्थिति वाले भी । वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल सुप्रत्याख्यान होता है । तथा (आपके मन्तव्यानुसार उस समय) वे प्राणी (स्थावर) होते ही नहीं जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता । इस प्रकार वह श्रावक महान त्रसकाय के घात से उपशान्त, (स्व-प्रत्याख्यान में) उपस्थित तथा (स्थूलहिंसा से) प्रतिविरत होता है ।

ऐसी स्थिति में आप या दूसरे लोग, जो यह कहते हैं कि (जीवों का) एक भी पर्याय नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का एक भी प्राणी के प्राणातिपात से विरतिरूप प्रत्याख्यान यथार्थ एवं सफल हो सके । अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है ।

सूत्र - ८०३

भगवान गौतम कहते हैं कि मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है–आयुष्मन् निर्ग्रन्थों ! इस जगत में कईं मनुष्य ऐसे होते हैं; वे इस प्रकार वचनबद्ध होते हैं कि 'ये जो मुण्डित हो कर, गृह त्याग कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हैं, इनको आमरणान्त दण्ड देने का मैं त्याग करता हूँ; परन्तु जो ये लोग गृहवास करते हैं, उनको मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग मैं नहीं करता । अब मैं पूछता हूँ कि प्रव्रजित श्रमणों में से कोई श्रमण चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत-से देशों में विचरण करके क्या पुनः गृहवास कर सकते हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे पुनः गृहस्थ बन सकते हैं ।

भगवान गौतम–श्रमणों के घात का त्याग करने वाले उस प्रत्याख्यानी व्यक्ति का प्रत्याख्यान क्या उस गृहस्थ बने हुए व्यक्ति का वध करने से भंग हो जाता है ? निर्ग्रन्थ–नहीं, यह बात सम्भव (शक्य) नहीं है । श्री गौतमस्वामी–इसी तरह श्रमणोपासक ने त्रस प्राणीयों को दण्ड देने (वध करने) का त्याग किया है, स्थावर प्राणियों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया । इसलिए स्थावरकाय में वर्तमान (स्थावरकाय को प्राप्त भूतपूर्व त्रस) का वध करने से भी उसका प्रत्याख्यन भंग नहीं होता । निर्ग्रन्थों ! इसे इसी तरह समझो, इसे इसी तरह समझना चाहिए ।

भगवान श्री गौतमस्वामी ने आगे कहा कि निर्ग्रन्थों से पूछना चाहिए कि आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में गृहपति या गृहपतिपुत्र उस प्रकार के उत्तम कुलों में जन्म लेकर धर्मश्रवण के लिए साधुओं के पास आ सकते हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे आ सकते हैं । श्री गौतमस्वामी–क्या उन उत्तमकुलोत्पन्न पुरुषों को धर्म का उपदेश करना चाहिए ? निर्ग्रन्थ–हाँ, उन्हें धर्मोपदेश किया जाना चाहिए ।

श्री गौतमस्वामी–क्या वे उस धर्म को सूनकर, उस पर विचार करके ऐसा कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर है, केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, परिपूर्ण है, सम्यक् प्रकार से शुद्ध है, न्याययुक्त है, माया-निदान-मिथ्या-दर्शनरूप शल्य को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्तिमार्ग है, निर्याण मार्ग है, निर्वाण मार्ग है, अवितथ है, सन्देहरहित है, समस्त दुःखों को नष्ट करने का मार्ग है; इस धर्म में स्थित होकर अनेक जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, तथा समस्त दुःखों का अन्त करते हैं । अतः हम धर्म की आज्ञा के अनुसार, इसके द्वारा विहित मार्गानुसार चलेंगे, स्थित होंगे, बैठेंगे, करवट बदलेंगे, भोजन करेंगे, तथा उठेंगे । उसके विधानानुसार घरबार आदि का त्याग कर संयमपालन के लिए अभ्युद्यत होंगे, तथा समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की रक्षा के लिए संयम धारण करेंगे । क्या वे इस प्रकार कह सकते हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे ऐसा कह सकते हैं ।

श्री गौतमस्वामी–क्या इस प्रकार के विचार वाले वे पुरुष प्रव्रजित करने योग्य हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे प्रव्रजित करने योग्य हैं । श्री गौतमस्वामी–क्या इस प्रकार के विचार वाले वे व्यक्ति मुण्डित करने योग्य हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे मुण्डित किये जाने योग्य हैं । श्री गौतमस्वामी–क्या वे वैसे विचार वाले पुरुष शिक्षा देने योग्य हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे शिक्षा देने योग्य हैं । श्री गौतमस्वामी–क्या वैसे विचार वाले साधक महाव्रतारोपण करने योग्य हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे उपस्थापन योग्य हैं । श्री गौतमस्वामी–क्या प्रव्रजित होकर उन्होंने समस्त प्राणियों, तथा सर्वसत्त्वों को दण्ड देना छोड़ दिया ? निर्ग्रन्थ–हाँ, उन्होंने सर्व प्राणियों की हिंसा छोड़ दी ।

सूत्र - ८०४

भगवान श्री गौतमस्वामी ने (पुनः) कहा–मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है–आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में परिव्राजक अथवा परिव्राजिकाएं किन्हीं दूसरे तीर्थस्थानों से चलकर धर्मश्रवण के लिए क्या निर्ग्रन्थ साधुओं के पास आ सकती हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, आ सकती हैं । श्री गौतमस्वामी–क्या उन व्यक्तियों को धर्मोपदेश देना चाहिए ? निर्ग्रन्थ–हाँ, उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए । श्री गौतमस्वामी–धर्मोपदेश सूनकर यदि उन्हें वैराग्य हो जाए तो क्या वे प्रव्रजित करने, मुण्डित करने, शिक्षा देने या महाव्रतारोहण करने के योग्य हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे प्रव्रजित यावत् महाव्रतारोपण करने योग्य हैं ।

श्री गौतमस्वामी–क्या दीक्षा ग्रहण किये हुए तथाप्रकार के व्यक्तियों के साथ साधु को साम्भोगिक (परस्पर

वन्दना, आसन प्रदान, अभ्युत्थान, आहारादि का आदान-प्रदान इत्यादि) व्यवहार करने योग्य है ? निर्ग्रन्थ–हाँ, करने योग्य है । श्री गौतमस्वामी–वे दीक्षापालन करते हुए चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक देशों में भ्रमण करके क्या पुनः गृहवास में जा सकते हैं ? निर्ग्रन्थ–हाँ, वे जा सकते हैं । श्री गौतमस्वामी–साधुत्व छोड़कर गृहस्थपर्याय में आये हुए वैसे व्यक्तियों के साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार रखना योग्य है ?

निर्ग्रन्थ–नहीं, अब उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं रखा जा सकता ।

श्री गौतमस्वामी–आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! वह जीव तो वही है, जिसके साथ दीक्षाग्रहण करने से पूर्व साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित नहीं होता, और यह वही जीव है, जिसके साथ दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित होता है, तथा यह वही जीव है, जिसने अब साधुत्व का पालन करना छोड़ दिया है, तब उसके साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार रखना योग्य नहीं है । यह जीव पहले गृहस्थ था, तब अश्रमण था, बाद में श्रमण हो गया, और इस समय पुनः अश्रमण है । अश्रमण के साथ श्रमण निर्ग्रन्थों को सांभोगिक व्यवहार रखना कल्पनीय नहीं होता । निर्ग्रन्थो ! इसी तरह इसे (यथार्थ) जानो, और इसी तरह इसे जानना चाहिए ।

भगवान श्री गौतमस्वामी ने कहा–कई श्रमणोपासक बड़े शान्त होते हैं । वे साधु के सान्निध्य में आकर सर्व प्रथम यह कहते हैं–हम मुण्डित होकर गृहवास का त्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं । हम तो चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णमासी के दिन परिपूर्ण पौषधव्रत का सम्यक् अनुपालन करेंगे तथा हम स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूलमैथुन, एवं स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान करेंगे । हम अपनी ईच्छा का परिमाण करेंगे । हम ये प्रत्याख्यान दो करण एवं तीन योग से करेंगे । (हम जब पौषधव्रत में होंगे, तब अपने कौटुम्बिक जनों से पहले कहेंगे–) मेरे लिए कुछ भी (आरम्भ) न करना और न ही कराना । तथा उस पौषध में अनुमति का भी प्रत्याख्यान करेंगे ।

पौषधस्थित वे श्रमणोपासक बिना खाए-पीए तथा बिना स्नान किये एवं ब्रह्मचर्य-पौषध या व्यापारत्याग-पौषध करके दर्भ के संस्तारक स्थित (ऐसी स्थिति में सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन करते हुए) यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उनके मरण के विषय में क्या कहना होगा ? यही कहना होगा कि वे अच्छी तरह से कालधर्म को प्राप्त हुए । देवलोक में उत्पत्ति होने से वे त्रस ही होते हैं । वे (प्राणधारण करने के कारण) प्राणी भी कहलाते हैं, वे (त्रसनामकर्म का उदय होने से) त्रस भी कहलाते हैं, (एक लाख योजन तक के शरीर की विक्रिया कर सकने के कारण) वे महाकाय भी होते हैं तथा (तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होने से) वे चिरस्थितिक भी होते हैं । वे प्राणी संख्या में बहुत अधिक हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी थोड़े हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता । इस प्रकार वह श्रमणोपासक महान त्रसकायि-हिंसा से निवृत्त हैं । फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय कहते हैं । अतः आपका यह दर्शन न्यायसंगत नहीं है ।

(फिर) भगवान गौतम स्वामी ने (उदक निर्ग्रन्थ से) कहा–कई श्रमणोपासक ऐसे भी होते हैं, जो पहले से इस प्रकार कहते हैं कि हम मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में अभी समर्थ नहीं हैं, और न ही हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करने में समर्थ हैं । हम तो अन्तिम समय में अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना के सेवन से कर्मक्षय करने की आराधना करते हुए आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान करके दीर्घकाल तक जीने की या शीघ्र ही मरने की आकांक्षा न करते हुए विचरण करेंगे । उस समय हम तीन करण और तीन योग से समस्त प्राणातिपात, समस्त मृषावाद, समस्त अदत्तादान, समस्त मैथुन और सर्वपरिग्रह का प्रत्याख्यान करेंगे । हमारे लिए कुछ भी आरम्भ मत करना, और न ही कराना । उस संलेखनाव्रत में हम अनुमोदन का भी प्रत्याख्यान करेंगे । इस प्रकार संलेखनाव्रत में स्थित साधक बिना खाए-पीए, बिना स्नानादि किए, पलंग आदि आसन से उतरकर सम्यक् प्रकार से संलेखना

की आराधना करते हुए कालधर्म को प्राप्त हो जाएं तो उनके मरण के विषय में क्या कहना होगा ? यही कहना होगा कि उन्होंने अच्छी भावनाओं में मृत्यु पाई है । वे प्राणी भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय और चिर स्थिति वाले भी होते हैं, इनकी संख्या भी बहुत है, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक करता है, किन्तु वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान वह नहीं करता है । ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक महान त्रसकायिक हिंसा से निवृत्त है, फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं । अतः आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है ।

भगवान श्री गौतमगणधर ने पुनः कहा–इस संसार में कईं मनुष्य ऐसे होते हैं, जो बड़ी-बड़ी ईच्छाओं से युक्त होते हैं, तथा महारम्भी, महापरिग्रही एवं अधार्मिक होते हैं । यहाँ तक कि वे बड़ी कठिनता से प्रसन्न किये जा सकते हैं । वे जीवनभर अधर्मानुसारी, अधर्मसेवी, अतिहिंसक, अधर्मनिष्ठ यावत् समस्त परिग्रहों से अनिवृत्त होते हैं । श्रमणोपासक ने इन प्राणियों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है । वे अधार्मिक मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु का त्याग कर देते हैं, और अपने पापकर्म अपने साथ ले जा कर दुर्गतिगामी होते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, तथा वे महाकाय और चिरस्थितिक भी कहलाते हैं । ऐसे त्रसप्राणी संख्या में बहुत अधिक हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता । उन प्राणियों को मारने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक व्रतग्रहण समय से लेकर मरण-पर्यन्त करता है । इस प्रकार से श्रमणोपासक उन महती त्रस-प्राणिहिंसा से विरत है, फिर भी आप श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं । आपका यह मन्तव्य न्याय युक्त नहीं है ।

भगवान श्री गौतम आगे कहने लगे–इस विश्व में ऐसे भी शान्तिप्रधान मनुष्य होते हैं, जो आरम्भ एवं परिग्रह से सर्वथा रहित हैं, धार्मिक हैं, धर्म का अनुसरण करते हैं या धर्माचरण करने की अनुज्ञा देते हैं । वे सब प्रकार के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से तीन करण; तीन योग से जीवनपर्यन्त विरत रहते हैं । उन प्राणियों को दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान किया है । वे काल का अवसर आने पर अपनी आयु का त्याग करते हैं, फिर वे अपने पुण्य कर्मों को साथ लेकर स्वर्ग अदि सुगति को प्राप्त करते हैं, वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, और महाकाय तथा चिरस्थितिक भी होते हैं । (उन्हें भी श्रमणोपासक दण्ड नहीं देता) अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है कि त्रस के सर्वथा अभाव के कारण श्रमणोपासक का उक्त व्रत-प्रत्याख्यान निर्विषय हो जाता है ।

भगवान श्री गौतमस्वामी ने कहा–इस जगत में ऐसे भी मानव हैं, जो अल्प ईच्छा वाले, अल्प आरम्भ और परिग्रह वाले, धार्मिक और धर्मानुसारी अथवा धर्माचरण की अनुज्ञा देने वाले होते हैं, वे धर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं, धर्माचरण ही उनका व्रत होता है, वे धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, धर्म करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वे प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक, एक देश से विरत होते हैं और एक देश से विरत नहीं होते, इन अणुव्रती श्रमणोपासकों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से मरणपर्यन्त किया होता है । वे काल का अवसर आने पर अपनी आयु को छोड़ते हैं और अपने पुण्यकर्मों को साथ लेकर सद्गति को प्राप्त करते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस और महाकाय भी कहलाते हैं, तथा चिरस्थितिक भी होते हैं । अतः श्रमणो-पासक का प्रत्याख्यान त्रसजीवों की इतनी अधिक संख्या होने से निर्विषय नहीं है, आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है ।

भगवान श्री गौतम ने फिर कहा–इस विश्व में कईं मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जो आरण्यक होते हैं, आवसथिक होते हैं, ग्राम में जाकर किसी के निमंत्रण से भोजन करते हैं, कोई किसी गुप्त रहस्य के ज्ञाता होते हैं, अथवा किसी एकान्त स्थान में रहकर साधना करते हैं । श्रमणोपासक ऐसे आरण्यक आदि को दण्ड देने का त्याग, व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त करता है । वे न तो संयमी होते हैं और न ही समस्त सावद्य कर्मों से

निवृत्त । वे प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की हिंसा से विरत नहीं होते । वे अपने मन से कल्पना करके लोगों को सच्ची-झूठी बात इस प्रकार कहते हैं–मुझे नहीं मारना चाहिए, दूसरों को मारना चाहिए; हमें आज्ञा नहीं देनी चाहिए, परन्तु दूसरे प्राणियों को आज्ञा देनी चाहिए; हमें दास आदि बनाकर नहीं रखना चाहिए, दूसरों को रखना चाहिए, इत्यादि। इस प्रकार का उपदेश देने वाले ये लोग मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किसी असुरसंज्ञकनिकाय में किल्बिषी देव के रूप में उत्पन्न होते हैं । अथवा वे यहाँ से शरीर छोड़कर या तो बकरे की तरह मूक रूप में उत्पन्न होते हैं, या वे तामस जीव के रूप में नरकगति में उत्पन्न होते हैं । अतः वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी, वे महाकाय भी होते हैं और चिरस्थिति वाले भी । वे संख्या में भी बहुत होते हैं । इसलिए श्रमणोपासक का त्रसजीव को न मारने का प्रत्याख्यान निर्विषय है, आपका यह कथन न्याययुक्त नहीं है ।

भगवान श्री गौतम ने कहा–इस संसार में बहुत-से प्राणी दीर्घायु होते हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड का प्रत्याख्यान करा है । इन प्राणियों की मृत्यु पहले ही हो जाती है, और वे यहाँ से मरकर परलोक में जाते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी; एवं वे महाकाय और चिरस्थितिक होते हैं । वे प्राणी संख्या में भी बहुत होते हैं, इसलिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान इन प्राणियों की अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है । इसलिए श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायोचित नहीं है ।

भगवान श्री गौतमस्वामी ने कहा–इस जगत में बहुत-से प्राणी समायुष्क होते हैं, जिनको दण्ड देने का त्याग श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है । वे प्राणी स्वयमेव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । मरकर वे परलोक में जाते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं और वे महाकाय भी होते हैं और समायुष्क भी । ये प्राणी संख्यामें बहुत होते हैं, इन प्राणियों के विषयमें श्रमणोपासक का अहिंसा-विषयक प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । अतः श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना न्यायसंगत नहीं है ।

गौतमस्वामीने कहा–कई प्राणी अल्पायु होते हैं। श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त जिनको दण्ड देने का त्याग करता है । वे पहले ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं । मरकर वे परलोक में जाते हैं । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, महाकाय भी होते हैं और अल्पायु भी । जिन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान करता है, वे संख्या में बहुत हैं, जिन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता, वे संख्या में अल्प हैं । इस प्रकार श्रमणोपासक महान त्रसकाय की हिंसा से निवृत्त हैं, फिर भी आप लोक उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बताते हैं, अतः आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है ।

भगवान गौतमस्वामी ने कहा–कई श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, जो इस प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं–हम मुण्डित होकर घरबार छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं है, न हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का विधि अनुसार पालन करने में समर्थ हैं, और न ही हम अन्तिम समय में अपश्चिममारणान्तिक संलेखना की आराधना करते हुए विचरण करने में समर्थ हैं । हम तो सामायिक एवं देशाव-काशिक व्रतों को ग्रहण करेंगे, हम प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में गमनागमन की मर्यादा करके या देशावकाशिक मर्यादाओं को स्वीकार करके उस मर्यादा से बाहर के सर्व प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दण्ड देना छोड़ देंगे । इस प्रकार हम समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के क्षेमंकर होंगे ।

सूत्र - ८०५

(१) ऐसी स्थिति में (श्रमणोपासक के व्रतग्रहण के समय) स्वीकृत मर्यादा के (अन्दर) रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं, जिनका उसने अपने व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड देने का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी अपनी आयु को छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्तर क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं, तब भी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमें सुप्रत्याख्यान होता है । वे श्रावक की दिशामर्यादा से अन्दर के क्षेत्र में पहले भी त्रस थे, बाद में भी मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं इसलिए वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं । ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक के पूर्वोक्त प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना कथमपि न्याययुक्त नहीं है ।

(२) श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश में रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देना श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के समय से लेकर मरणपर्यन्त छोड़ दिया है; वे जब आयु को छोड़ देते हैं और पुनः श्रावक द्वारा गृहीत उसी मर्यादा के अन्दर वाले प्रदेश में स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं; जिनको श्रमणोपासक ने अर्थदण्ड का त्याग नहीं किया है, किन्तु उन्हें अनर्थ दण्ड करने का त्याग किया है । अतः उनको श्रमणोपासक अर्थवश दण्ड देता है, अनर्थ दण्ड नहीं देता । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं । वे चिरस्थितिक भी होते हैं । अतः श्रावक का त्रसप्राणियों की हिंसा का और स्थावरप्राणियों की निरर्थक हिंसा का प्रत्याख्यान सविषय एवं सार्थक होते हुए भी उसे निर्विषय बताना न्यायोचित नहीं है ।

(३) (श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के) अन्दर के प्रदेश में जो त्रस प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग किया है; वे मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु को छोड़ देते हैं, वहाँ से देह छोड़कर वे निर्धारित मर्यादा के बाहर के प्रदेश में, जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके उत्पन्न होते हैं, जिनमें से त्रस प्राणियों को तो श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर आमरणान्त दण्ड देने का और स्थावर प्राणियों को निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया होता है । अतः उन प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी भी कहलाते हैं यावत् चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं । अतः श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नहीं है ।

(४) (श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के) अन्दर वाले प्रदेश में जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनको प्रयोजनवश दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु बिना प्रयोजन के दण्ड देने का त्याग किया है; वे स्थावर प्राणी वहाँ से अपनी आयु को छोड़ देते हैं, आयु छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश में जो त्रस प्राणी हैं, उनमें उत्पन्न होते हैं । तब उन प्राणियों के विषय में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी; यावत् चिरस्थितिक भी होते हैं । अतः त्रस या स्थावर प्राणियों का अभाव मानकर श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है ।

(५) श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको सार्थक दण्ड देने का त्याग श्रमणोपासक नहीं करता अपितु वह उन्हें निरर्थक दण्ड देने का त्याग करता है । वे प्राणी आयुष्य पूर्ण होने पर उस शरीर को छोड़ देते हैं, उस शरीर को छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादित भूमि के अन्दर ही जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने सार्थक दण्ड देना नहीं छोड़ा है, किन्तु निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया है, उनमें उत्पन्न होता है । अतः इन प्राणियों के सम्बन्ध में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी भी हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी हैं । अतः श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्याययुक्त नहीं है ।

(६) श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनकी सार्थक हिंसा का त्याग नहीं किया, किन्तु निरर्थक हिंसा का त्याग किया है, वे स्थावर प्राणी वहाँ से आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड़कर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं; जिनको दण्ड देने का श्रमणो-पासक ने व्रतग्रहण के समय से मरण तक त्याग किया हुआ है, उनमें उत्पन्न होते हैं । अतः उनके सम्बन्ध में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी भी कहलाते हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं । अतः श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है ।

(७) श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि से बाहर जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको व्रतग्रहण-समय से मृत्युपर्यन्त श्रमणोपासक ने दण्ड देने का त्याग कर दिया है; वे प्राणी आयुक्षीण होते ही शरीर छोड़ देते हैं, वे श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतारम्भ से लेकर आयुपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उनमें उत्पन्न होते हैं । इन प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का प्रत्या-ख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । क्योंकि वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी तथा महाकाय भी एवं चिरस्थितिक भी होते

हैं । अतः आपके द्वारा श्रमणोपासक के उक्त प्रत्याख्यान पर निर्विषयता का आक्षेप न्यायसंगत नहीं है ।

(८) श्रमणोपासक द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण काल से लेकर मृत्युपर्यन्त त्याग किया है; वे प्राणी वहाँ से आयुष्य पूर्ण होने पर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादित भूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु निष्प्रयोजन दण्ड देने का त्याग किया है, उनमें उत्पन्न होते हैं । अतः उन प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक द्वारा किया हुआ प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है । वे प्राणी भी हैं, यावत् दीर्घायु भी होते हैं । फिर भी आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नहीं है ।

(९) श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहणारम्भ से लेकर मरणपर्यन्त त्याग कर रखा है; वे प्राणी आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड़ देते हैं । वे उसी श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के बाहर ही जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण से मृत्युपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उन्हीं में पुनः उत्पन्न होते हैं । अतः श्रमणोपासक द्वारा किया गया प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है । वे प्राणी भी कहलाते हैं, यावत् चिरकाल तक स्थिति वाले भी हैं । ऐसी स्थिति में आपका यह कथन न्याययुक्त नहीं कि श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान निर्विषय है ।

(अन्त में) भगवान गौतम ने कहा–भूतकाल में ऐसा कदापि नहीं हुआ, न वर्तमान में ऐसा होता है और न ही भविष्य में ऐसा होगा कि त्रस-प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएंगे, और सब के सब प्राणी स्थावर हो जाएंगे, अथवा स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएंगे और वे सब के सब प्राणी त्रस हो जाएंगे । त्रस और स्थावर प्राणियों को सर्वथा उच्छेद न होने पर भी आपका यह कथन कि कोई ऐसा पर्याय नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हो, यावत् आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है ।

सूत्र - ८०६

भगवान गौतम स्वामी ने उनसे कहा–'आयुष्मन् उदक ! जो व्यक्ति श्रमण अथवा माहन की निन्दा करता है वह साधुओं के प्रति मैत्री रखता हुआ भी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को प्राप्त करके भी, हिंसादि पापों तथा तज्जनित पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत वह अपने परलोक के विघात के लिए उद्यत है । जो व्यक्ति श्रमण या माहन की निन्दा नहीं करता किन्तु उनके साथ अपनी परम मैत्री मानता है तथा ज्ञान प्राप्त करके, दर्शन प्राप्त कर एवं चारित्र पाकर पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत है, वह निश्चय ही अपने परलोक की विशुद्धि के लिए उद्यत है । पश्चात् उदक पेढ़ालपुत्र निर्ग्रन्थ भगवान गौतम स्वामी को आदर दिये बिना ही जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में जाने के लिए तत्पर हो गए ।

भगवान गौतमस्वामी ने कहा–''आयुष्मन् उदक ! (श्रेष्ठ शिष्ट पुरुषों का परम्परागत आचार यह रहा कि) जो व्यक्ति तथाभूत श्रमण या माहन से एक भी आर्य, धार्मिक सुवचन सूनकर उसे हृदयंगम करता है और अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से उसका भलीभाँति निरीक्षण-परीक्षण करके (यह निश्चित कर लेता है) कि 'मुझे इस परमहितैषी पुरुष ने सर्वोत्तम योग-क्षेम रूप पद उपलब्ध कराया है,' तब वह उपकृत व्यक्ति भी उस (उपकारी तथा योगक्षेमपद के उपदेशक)का आदर करता है, उसे अपना उपकारी मानता है, उसे वन्दन–नमस्कार करता है, उसका सत्कार-सम्मान करता है, यहाँ तक कि उसे कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप मानकर उसकी पर्युपासना करता है

तत्पश्चात् उदक निर्ग्रन्थ ने भगवान गौतम से कहा–''भगवन् ! मैंने ये (आप द्वारा निरूपित परमकल्याण-कर योगक्षेमरूप) पद पहले कभी नहीं जाने थे, न ही सूने थे, न ही इन्हें समझे थे । मैंने हृदयंगम नहीं किये, न इन्हें कभी देखे सूने थे, इन पदों को मैंने स्मरण नहीं किया था, ये पद मेरे लिए अभी तक अज्ञात थे, इनकी व्याख्या मैंने नहीं सूनी थी, ये पद मेरे लिए गूढ़ थे, ये पद निःसंशय रूप से मेरे द्वारा ज्ञात या निर्धारित न थे, न ही गुरु द्वारा उद्धृत थे, न ही इन पदों के अर्थ की धारणा किसी से की थी । इन पदों में निहित अर्थ पर मैंने श्रद्धा नहीं की, प्रतीति नहीं की और रुचि नहीं की । भन्ते ! इन पदों को मैंने अब जाना है, अभी आपसे सूना है, अभी समझा है,

यहाँ तक कि मैंने इन पदों में निहित अर्थ की धारणा की है या तथ्य निर्धारित किया है; अतएव अब मैं इन (पदों में निहित) अर्थों में श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ । यह बात वैसी ही है, जैसी आप कहते हैं ।''

तदनन्तर श्री भगवान गौतम उदक पेढ़ालपुत्र से इस प्रकार कहने लगे–आर्य उदक ! जैसा हम कहते हैं, (वह सर्वज्ञवचन है अतः) उस पर पूर्ण श्रद्धा रखो । आर्य ! उस पर प्रतीति रखो, आर्य ! वैसी ही रुचि करो । आर्य! मैंने जैसा तुम्हें कहा है, वह वैसा ही (सत्य–तथ्य रूप) है । तत्पश्चात् उदकनिर्ग्रन्थ ने भगवान गौतमस्वामी से कहा–''भन्ते ! अब तो यही ईच्छा होती है कि मैं आपके समक्ष चातुर्याम धर्म का त्याग करके प्रतिक्रमणसहित पंच महाव्रतरूप धर्म आपके समक्ष स्वीकार करके विचरण करूँ ।''

इसके बाद भगवान गौतम उदक पेढ़ालपुत्र को लेकर जहाँ श्रमण भगवान महावीर बिराजमान थे, वहाँ पहुँचे । भगवान के पास पहुँचते ही उनसे प्रभावित उदक निर्ग्रन्थ ने स्वेच्छा से जीवन परिवर्तन करने हेतु श्रमण भगवान महावीर की तीन बार प्रदक्षिणा की, ऐसा करके फिर वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दन–नमस्कार के पश्चात् इस प्रकार कहा–''भगवन् ! मैं आपके समक्ष चातुर्यामरूप धर्म का त्याग कर प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रत वाले धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'' इस पर भगवान महावीर ने कहा ''देवानुप्रिय उदक ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, परन्तु ऐसे शुभकार्य में प्रतिबन्ध न करो ।''

तभी उदक ने चातुर्याम धर्म से श्रमण भगवान महावीर से सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतरूप धर्म का अंगीकार किया और विचरण करने लगा । –ऐसा मैं कहता हूँ ।

अध्ययन-७ का मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

[श्रुतस्कन्ध-२ हिन्दी अनुवाद पूर्ण]

आगमसूत्र- २ 'सूत्रकृत्' अंगसूत्र– २ का
मुनि दीपरत्नसागर कृत् हिन्दी अनुवाद पूर्ण

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

પૂજ્યપાદ્ શ્રી આનંદ-ક્ષમા-લલિત-સુશીલ-સુધર્મસાગર ગુરૂભ્યો નમ:

२

सूत्रकृत्

आगमसूत्र हिन्दी अनुवाद

[अनुवादक एवं संपादक]

आगम दीवाकर मुनि दीपरत्नसागरजी

[M.Com. M.Ed. Ph.D. श्रुत महर्षि]

વેબ સાઈટ:- (1) www.jainelibrary.org (2) deepratnasagar.in

ઈમેલ એડ્રેસ:- jainmunideepratnasagar@gmail.com મોબાઈલ 09825967397